

9078
e

अग्निहोत्रः सपनों में

S. V. Rao
5/5/09



जीवनप्रकाश जोशी

अग्निहोत्र : सपनों में

[काव्य]

○

जीवन प्रकाश जोशी

○

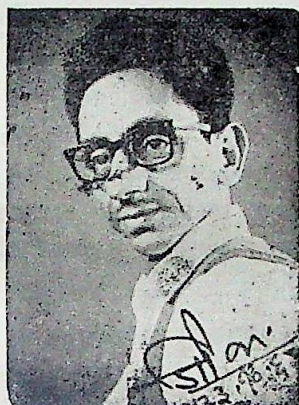
****स्केन्ड/Scanned****

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली-7

समर्पित

भारत के भव्य भविष्य की
जन-जन ज्योतिष-छवि
इन्दिरा गांधी को ।...
उनको भी,
अपना जिस्म जलाकर
जो, जीवन भर,
आग का अर्थ तलाशते हैं ।...
और उनको भी,
जिनके लिए कविता
आग के सही अर्थ की सच्ची तलाश है ।

जीवन प्रकाश जोशी



परिचय

जन्म-स्थान—अलीगढ़ । मूलस्थान : झिझाड़ अल्मोड़ा ।

जन्म—संवत् १९८८, (२ मई १९३१) वैशाख कृष्णपक्ष, अष्टमी, गुरुवार ।

पिता—श्री जमनाप्रसाद जोशी ।

माता—चन्द्रवती देवी ।

शिक्षा—एम० ए०, पी-एच० डी० ।

कार्यक्षेत्र—१ अगस्त ४९ से मई ५८ तक गन्ना सोसाइटी सहारनपुर में लिपिक—‘वीणा’ तथा ‘निर्झर’ पत्रिकाओं के सम्पादन से सम्बद्ध, गांधी मेमोरियल कालेज सहारनपुर में तथा प्राइवेटली अध्यापन । ८ मई ५८ से १३ जुलाई ६० तक दिल्ली में स्वतन्त्र-लेखन तथा ट्यूशन। १४ मई ६० से ११ जुलाई ६० तक फर्टेलाइजर एसो० आफ इण्डिया की ‘खाद पत्रिका’ में स० सम्पादक । १२ जुलाई ६० से १४ सितम्बर ७० तक आकाशवाणी दिल्ली के लेखन-कार्य से सम्बद्ध । १६ सितम्बर ७० से दिल्ली-विश्व-विद्यालय के देशबन्धु कालेज (सायं) कालकाजी नई दिल्ली में हिन्दी-लेक्चरर ।

प्रकाशित कृतियाँ

काव्य—(१) हृदयावेश, जून, ५४ (२) माला-जनवरी, ५७ (३) दिल और दर्पण, मार्च, ५७ (४) धरती : आकाश : मनुष्य (गद्यगीत-जीवनसूत्र), जनवरी, ५७ (५) आग और आकर्षण—जुलाई, ६२ (६) हम भी तुम्हारे हैं, दिसम्बर, ६६ (७) नये सत्य का अंकन, जुलाई, ७१ (८) ओ छूटे हुए रास्तो, दिसम्बर, ७३ । (९) आग्निहोत्र : सपनों में, जुलाई, १९७६

समीक्षा—(१०) हिन्दी-साहित्य-संजूषा—मई, ५६ (११) जायसी का पद्मावत (भाष्य-भूमिका), दिसम्बर ५८ (१२) हिन्दी गद्य के सोपान—अप्रैल, ६० (१३) निबन्ध-नवनीत—अक्तूबर, ६१ (१४) विद्यापति की पदावली (भाष्य)—जनवरी ६३ (१५) साहित्यिक निबन्ध—जून, ६४ (१६) वचन : व्यक्तित्व और कवित्व—अगस्त ६८ (१७) वचन : पत्रों में—नवम्बर, ७० (१८) आधुनिक हिन्दी-गीतकाव्य : विषय और शिल्प (शोध-प्रबन्ध), मार्च ७४ (१९) नाटककार मोहन राकेश, जनवरी ७५ । (२०) गद्यकार वचन, जून, ७६

उपन्यास—(२१) कलाकार—फरवरी, ६० (२२) विवाह की मंजिलें—नवम्बर, ६० ।

प्रकाश्य

(१) आधुनिक गीत और गीतकार (समीक्षा) (२) डूबता सूरज : उगता सूरज (काव्य) (३) गुड़िया का व्याह (कहानी-संग्रह) (४) अंचल : पत्रों में (संपादन-समीक्षा)

अप्रकाशित—कृतियाँ

काव्य—(१) चोट और झंकार (२) अश्रु मेरे : गीत तेरे (३) आलोक और अर्चना (४) फूलों की छतरी (बाल-कविता-संग्रह) (५) उच्छिष्ट (६) चयन (कवि द्वारा अपनी श्रेष्ठ कविताओं का चुनाव-संकलन)

समीक्षा—(७) कामायनी : भाष्य-भूमिका

गद्यगीत : सूक्तियाँ—(८) अन्धकार और जुगनू

मुखबंध

नौवां कविता-संग्रह 'अग्निहोत्र : सपनों में' (रचनावधि सन् '७५) पेश करते हुए मुझे खास खुशी इस बात की है कि मन-अधिमन में जो, तपा-तपा-सा, एक रूप अस्तित्वार करने के लिए छटपटाता था, रूपायित लगता है।

सोचा, इस कविता के कुल कथ्य के 'कटों' में परस्पर संगति कौन-सी है ?—तो समाधान सूझा कि, खासकर, इनकी संगति तो विविध-विसंगत निरवधि टूटते-जुड़ते, कालानुक्रमगत, संदर्भों की सर्वत्र अच्छादित, अभिजात्य मूल्यों से प्रसूत, मानसिक असंगति की सहज-संगत-संतुलित द्वंद्वात्मक विकासवान अभिव्यक्ति में जरूर है—जिससे जुड़ी-जुड़ी होती है आदिम प्रकृति-नियति, जिसमें जड़ें जमी होती हैं जीव की जिजीविषा की।—और, जिसे मनुज मिथकों में, विम्बों में, त्रिकाल में, तलाशता है—पाता है। संवेदन की भाषा में इसकी जितनी ऊंची, ऊर्जामय, अभिव्यक्ति होगी, कविता उतनी बड़ी बनेगी। आधुनिकता, समसामयिकता (भी), इस कविता से अछूती नहीं रह सकती।...

प्रस्तुत कविता में आपात्कालीन स्थिति के पूर्व की दुर्व्यवस्था के, और उसके सुधार के लिए इधर '२०-सूत्रीय' जो कुछ तेज़ी से होना शुरू हुआ उससे भारत के भव्य भविष्य के उभरते विम्ब भी रूपायित हुए हैं। यों यहां मार्क्स का पूर्व मूल्यों का, नये सामाजिक संरचनात्मक संदर्भ में, निषेधात्मक और अरविद-गांधी का, भव्य भविष्य के विकास से संदर्भित, मुक्तिकांक्षी मानव के विकास के मांगलिक मूल्यों से पोषित-समन्वयात्मक विचार-संवेदन-बोध एक रूप लेता है—'निज कवित्त केहि लाग न नीका' उक्ति से सचेत होकर भी मुझे अपनी कविता का यह पक्ष बड़ा प्यारा लगता है।

अतः यह कविता नये युग-समाज-जीवन की कठिनाइयों भरी, खतर-
नाक, यात्रा की एक संवेदनामई-सच्ची शहादत और नव-रचनात्मक
मानवीय मूल्यों की एक नई दिशा में तलाश तो है-ही, एक नई मंजिल भी
है—मंजिल—भव्य भविष्य का—जिससे मानव-जीवन की एक बड़ी
यात्रा का अतीत, और अंत भी, जुड़ा है।

डा० जोतवाणी मेरे सहकर्मी-सहधर्मी विद्वान मित्र हैं। उन्होंने अपना
कीमती वक्त इस कविता को ध्यान से, रुचि से, सुनने में लगाया, और
प्रतिक्रिया प्रकट की—तदर्थ धन्यवाद प्रकट करना औपचारिक लगता है।

प्रिय अश्विनीकुमार, विजय कपूर और अमितकुमार ने, बड़ी लगन-
रुचि से, प्रेस-कापी तैयार की। तदर्थ, कामना करता हूं, उत्तरोत्तर,
उनका भविष्य उजला हो।

देशबंधु सायं कालेज

(दिल्ली-विश्वविद्यालय)

कालकाजी : नई दिल्ली-१६

—घर—

—जीवन प्रकाश जोशी

सेक्टर-१२/६८६,

रामाकृष्णपुरम, नई दिल्ली—२२

प्रतिक्रिया

डा० जीवन प्रकाश जोशी की नई कविता 'अग्निहोत्रः सपनों में' पढ़ने के बाद मैं इसके पढ़ने से पहले का-सा नहीं रह पाया। मुझे यह कविता अपने शीर्षक में भी एक नया विरोधाभास जीकर कठोर यथार्थ की भूमि पर चौककर उठ खड़ी हुई प्रतीत हुई।

शास्त्री लोग क्षमा करें—यह नए युग का नया प्रबन्ध-काव्य है, जिसका नायक धीर तो है (क्योंकि उसमें भाव और विचार का संतुलन है), पर उदात्त और ललित नहीं, वह धीर-उदण्ड नायक है, और सबको खरी-खरी सुनाने में विश्वास करता है। इसकी कथा किसी विशेष भू-भाग की नहीं, वह तो सबकी, सबके यहां की, जानी-पहचानी कथा है, जिसके समकालीन दायरे में विएतनाम में हुए क्रूर कारनामे, राजनीति के नाम पर आए दिन लगने वाले गुमराह नारे, फोकी-खोखली क्रांति की आवाजें और बुद्धिजीवियों की नपुंसक खीज और कुछ न कर सकने की लाचारी भी आ जाती है। क्या हमारे युग का 'एपिक' पुराने 'एपिक'-सा ही रहेगा? नहीं, अन्यान्य विधाओं की भांति इसमें भी लक्षण-परिवर्तन आया है। इस नए 'एपिक' में एक ही प्रसिद्ध कथा न होकर, वेद, कुरान, बाईबिल और पौराणिक यूनानी पुराकथाओं/मिथिकों का नई पृष्ठभूमि पर संगत-सजीव अंकन-आकलन हुआ है। इसकी काव्य-पद्धति "वेस्टलैण्ड" की-सी, और ज़मीन बिल्कुल अपनी है।

"अग्निहोत्रः सपनों में" में चेतन और अवचेतन जगत् की समस्त क्रीड़ा रूपायित हुई है। यह जागने में सोने का बहकना है और सोते में से जागने का उठ खड़ा होना है। इसके पढ़ने के बाद कोई सपनों में रहना नहीं चाहेगा।...

इसकी भाषा में ताज़ा लहू का रंग बू है, वही गर्मी है। लगता है, कवि ने अभी-अभी पुरानी भाषा के कलेवर में अपनी तेज-धार कलम घोंप दी है।

डा० मोतीलाल जोतवाणी

आओ, एक साथ चढ़ें स्वर्ण-शिखर रौंदने !



‘प्रकाशमान चोटियों तक पहुँचने का केवल उन्हीं को अवसर प्राप्त हो सकता है जो उसके ढालू रास्तों की छका देने वाली चढ़ाई से नहीं डरते ।’

—कार्ल मार्क्स



‘स्वप्न-विचारों के सब आपसी संबंध लोप हो जाते हैं, विचार टूटकर मूल वस्तु के रूप में आ जाते हैं, और निर्वचन करते हुए हमारा कार्य है कि जो संबंध लुप्त हो गए हैं, उन्हें फिर से जोड़ें ।’

—सिगमंड फ्रायड



“The dream is always more actual than actuality”

—D.H. Lawrence



“Society is still with man in dream.
Even in dream the social 'ego' fantastically
fulfils men's desires in the social world.”

—C. Caudwell

अग्निहोत्र : सपनों में

ऊँचा-ऊँचा होते जाते
 सीधे-संगमरमरी पहाड़ पर चढ़ते हुए
 विकराल काफिले के वे लोग
 जो, इर्द-गिर्द इकट्ठा होकर,
 रोटी-रोजी-मकान-मँहगाई-भत्ते की माँग में
 हिंसक नारे लगाते—
 गंदी-से-गंदी गालियाँ बकते थे, अचानक,
 पथराव-आगजनी-तोड़फोड़ करने लगे थे ।...
 इसके बाद शहर में कर्फ्यू लग गया ।
 फिर, संगमरमरी पहाड़ के
 दाँए-बाँए, आगे-पीछे,
 बारूदी खाइयों-खदकों-खड्डों के मुहानों पर
 बंदूकों-तोपों दागते डकैतों के दल ।...
 फिर, तीन पंखोंवाले, उड़ते हुए,
 विशालकाय आदमीनुमा ईगल ने
 बंदूकों-तोपों के दहानों पर
 ढेरों बीट कर दी ।...
 फिर, मीलों पीछे हटकर
 ऐसा तूफानी झपट्टा मारा
 कि संगमरमरी पहाड़, भहराकर, ढह गया !
 उसकी नाभि से उभरा,
 उभरता गया, एक विशाल समतल
 जहाँ, जो इलाका
 ऊसर-बंजर दिखता था, वहाँ
 अदेखे-अजाने नौजवानों के दल
 झलझलाते जोश में
 पसीने की बूंदें बोते जाते थे...
 और, उनके पीछे-पीछे

दूधिया दरिया बहता आता था ।...
 स्याह दुर्गत दुर्ग जैसा होता देश
 होने लगा गुलज़ार गुलशन
 और, माहौल, मानो, मूर्त्त होता हुआ
 महान् मंगलाचरण ! —
 (वाह, सपनों में,
 कैसे-कैसे शानदार रूप धरता है संवेदन
 लोकमंगल के श्रम की शब्दरहित अभिव्यक्ति के ।...
 और, बेलबूटेवाली हो जाती है धरती
 नौजवानों के पसीने के कतरों से सिंचकर ।...
 धरती की गोद से लिपटी हरियाली
 होती है, असल में,
 भूखे पेटों और प्यासे जज़्बातों की
 असलियत बनी तामीर—तयशुदा मिट्टी !)
 दिखती है, स्वदेश की दूब-दूब नोंक से
 बिधी-बिधी, ममताभरी, छाती !
 माटी का ज़र्रा-ज़र्रा जैसे करंट
 खून के कतरे-कतरे का !...
 अरे, एक विराट् व्यक्तित्व मेरा देश !...
 मेरा देश, यानी, एक विराट् वजूद
 यानी, बहुरंगी, जुदा-जुदा, जनपदों से जुड़ा-जुड़ा,
 सूक्ष्म हुआ, मेरा ही लघु वपुः व्यक्ति—
 जिसके रोम-रोम से झरता दूधिया झरना
 और, जिसके आस-पास जुड़ती, भूखों-नंगों की भीड़ें
 अचानक, लगतीं खिली-खिली फुलवारियां !...
 क्या खूब ! —खुशबू-सी महक उठी
 गंदी मक्खी जैसी हर निखिद् चीज़ !
 आकाश, जैसे, मूर्तमान अपनापन
 धरती, जैसे सृजन की धारणा
 दिशाएँ, जैसे प्रदीप्त कल्पनाएँ
 देह, जैसे लाल-लाल प्राची
 और, भव्य भविष्य का ख्याल, जैसे,

सामने मेज़ पर रक्खा सुख सेव ! ...
 दूर, स्याह आसमान से धूमकेतुओं जैसे,
 डगमगाते जंबू-जैटों पर धरे
 विकराल आतिशी आयुध—स्काइ-स्केपरों से—
 धरड़-धरड़ नीचे गिरते थे...
 और, अमन-चैन की, आशाभरी,
 'गुडुप-गुडुप' की ध्वनियाँ उछालकर
 डूबते जाते थे सुर्खाबी जलमंडलों में !
 ओह, अचानक, अँधेरा चीरकर
 आई सर्चलाइट-सी,
 जिसमें, दीख पड़ा, जैसे,
 बनता-बनता वीहड़ वन—
 एरुदम, बनता-बनता वासंती वन ! ...
 क्या खूब, जहाँ कल्पना, जैसे,
 कोई अल्हड़ मृगी जनती हो
 सफेद हाथी, कि
 सब तरफ, खिल उठे,
 रंग-विरंगे कमल-ही-कमल ! ...
 (ओह, कल्पना में कमल बनते कर्म
 और, कर्म बनते कमल
 कैसे तर्कातीत, सूक्ष्म सत्य जीते हैं !)
 और फिर, चारों तरफ
 सरसों के खेतों में
 पीले फूलों की पीताभा-सी
 छाई आशा और उमंग ! ...
 और, बुरूस के फूलों की सुर्खाभा-सी
 लगने लगी लगन लोगों में ! ...
 आलोक-छंद रचता-सा, कवि-सा, वक्त-वातावरण ! ...
 व्यवित-व्यक्ति, अनुशासित शब्द-शब्द-सा ! ...
 और समूचा राष्ट्र : कर्म—
 जैसे, लिखा गया एक नई तरह का महाकाव्य !

□ □

भीड़ भड़काने वाले
 फ्रासिस्टी फ्रैसला सुनाते, आधुनिक जहाँगीर ! ...
 काली फ्राइलों पर उजले दस्तखत करते
 अलफाकारी अफसर
 ईश्वरीय उपदेश देते
 आदमखोर भक्त ! ...
 और, चारों तरफ—
 जनक्रांति की जीवंत मजबूराकृति जैसी
 घूरती, एक बेवस शेरनी ! ...
 वगलों में बंदूकें दबाए
 चोरों-डकैतों की जमातों के आगे-आगे
 जनतंत्रीय घर्घरनादी नारे लगाते, अचानक,
 अवधूतों और मुनाफ़िकों जैसों द्वारा
 घेर लिया गया, उसे बेवस शेरनी को । ...
 डावाँडोल होने लगी हर चीज़ ! ...
 हरा-भरा जंगल, जैसे, जल उठा ! —
 और, एकदम अचानक,
 चमकीली-नुकीली दाढ़ों में दबते दिखे
 परवाज़, स्याह साँपों के फैले-फैले फन ! ...
 जकड़ गया, जंगी जंजीर से,
 हर जगह, हरेक के पास खड़ा,
 खूनी पंजे पैनाता, बेहद खूँखार
 नंगा नर-पशु-आकार ! ...
 सतर्क हो गया,
 कान खड़े शिकारी कुत्ते जैसा हर क्षण ...
 तहस-नहस हो गया
 घर-घर में जाला पूरता
 मकड़े-सा, जहरीला मनहूस माहौल ! ...
 (भड़कों-भँडरियों—
 तस्करों-ताल्लुकेदारों द्वारा हथियायी दुर्व्यवस्था

और, श्वेताम्बरधारी भंभाका में
 अरे, कैसा कमाल का होता है अंतर-साम्य
 थू-थू !
 विस्फोटक नारे बनते मानवीय मूल्यों
 और, रास्तों पर पड़े-सड़े, दुर्गन्ध देते, लावारिस शवों में
 हकीकतन, कैसा होता है वीभत्स-साम्य ! —
 भड्डों-भँडरियों-तस्करों-ताल्लुकेदारों को
 कतई काबू करने के लिए
 जरूरी होती है
 एक अद्वितीय नेतृत्व-शक्ति, शरीरधरे,
 साक्षात्—भद्रकाली-सी !)
 धूमकेतुओं की भीड़ में
 उभरी-उभरी, मोटी माँसपेशियों वाला
 एक फौलादी मर्द
 ज़मीन में धँसे चक्के को
 होठ भींचे, नथुने फड़काता,
 दाँत किटकिटाता, तमतमाता,
 ऊपर खींचते हुए गरजा :
 “अरे ओ, महाकुलीन मक्कारो !
 मैं नहीं हूँ महाभारत का
 मैं तो हूँ आधुनिक भारत का
 अकुलीन वर्ण का कर्ण !
 युगों से सहे-भोगे, अमानवीय-असामाजिक अन्यायों का
 और, मानवीय सामाजिक न्यायों की इच्छा का
 मुझमें सुसंचित है असीम बल ! ...
 अरे, मैं ही हूँ धरती पर चक्कर काटता
 महापिता सूरज का वह प्रकाश-पिंड
 जो पीछा करता आ रहा है उनका
 जो डूबते-उगते सूरज के साथ
 साहूकार के सूद-रूप में
 खून उघाते हैं आम आदमी का ! ...
 मैं हूँ, आधुनिक, अजाना, अवर्ण-कर्ण...

खून की तिजारत-तस्करी के हथकंडों से
 खूब-खूब वाकिफ—सर्वथा साजिशप्रूफ ! ...
 लो देखो, धरती के अँधेरे-उजाले के
 मायावी मध्य में घँसा
 मनुष्य की माकूल मुक्ति का धर्मचक्र
 अब बाहर निकल चुका है ।...
 और, आगे-आगे,
 कैसा जगमगाता जाता है प्रशस्त-पथ !
 हर तरफ, वस्तु-वास्तुकला के नवनिर्मित
 मनोरम, माडलनुमा, छोटे-छोटे मकान...
 बेलबूटेदार कालीनों-गुलदस्तों जैसे
 छोटे-छोटे खेत-बाग-बगीचे
 और, पुतली-मगज के मध्य में उभरते
 नये-नये गुरुकुल-नालंदा-तक्षशिला ! ...
 और, आश्चर्य से भी कुछ अधिक कि
 इसी मध्य में
 बहुत-बहुत आगे, ऊँचा होता जाता
 आधुनिककालवाची उच्चेःश्रवा-सा,
 यानी, आधुनिक आदमी का यंत्र-तंत्रयान (आर्यभट्ट !)
 और, खुद शिनाख्तता है आम आदमी, अपने को,
 अर्थान्तरन्यास और मुक्तछंद जैसा कुछ ! —
 असल में, मैं,
 कोई संज्ञाबोधक कर्ण-वर्ण नहीं रहा हूँ ।...
 केवल प्रतीक हो गया हूँ
 मध्यकाल और उसके अतिक्रमण का—
 आधुनिककाल के प्रगति-पथ के
 मुक्त मानव का, महज प्रतीक—
 हाँ, महज प्रतीक
 तुमल-कोलाहल-कलह में
 डूबे-उगे सूरज का ! ”...
 और, इस ध्वनि के साथ, अचानक,
 आलीशान इमारतों के अंदरूनी

काले तहखानों की दीवारें तोड़कर
 निकल पड़े प्रकाश-कणों के काफ़िले
 और, आगे-आगे, नाचने लगे
 अनेक सूर्यप्रभ सैयारे ! —
 जगह-जगह, भड़की-भड़की भीड़ लगने लगी
 गणतंत्रदिवस की एकदम अनुशासनबद्ध
 सेल्यूट मारती विशाल सेना-सी ! ...
 और, सब तरफ, झलकियाँ रंगीन—
 नई-नई किरणों की, झूमती फ़सलों की ! ...
 वाह, कैसी महान् झाँकी कि
 पूरब में, स्याह-कत्थई फ़लक से,
 उभरता-झाँकता-झलकता
 जन्मते अद्भुत शिशु जैसा
 एकदम, नया-नया, सुख सूरज...
 और, प्रकाश-जलभरा, जैसे, मंगलकलश—
 व्यक्ति-व्यक्ति: वातावरण !
 और, आगे आता, साकार होता, सुनहरा कल । ...
 कैसे दिखते हैं साफ, सुनहरी फिज़ाँ फैले-फैले,
 विशाल चित्रफलक जैसे गंदे गाँव,
 निरयतुल्य नगर-महानगर, पापग्रही प्रांत
 और देश समूचा सजीव चित्रवत् महान्
 सूर्यमुकुट-सा जगमग-जगमग
 जैसे, ज्योति पुरुष साकार नरसिंहाकार-सा
 सीने पर सवार, अंधकार-दैत्य के ! ...
 (वाह, वर्तमान अंधकार पर
 हावी होता हौसला मानवीय
 भविष्य के उजाले का—
 ऐसा, जैसा, हो छिपा बैठा घुप गुफा में—
 अरे, कैसा अग्निअक्स वाला अद्भुत
 आकार-सा उभरता है
 आम आदमी की अमर आशामयी,
 आंतरिक आँख में—वर्णनातीत !)

व्यवस्था और बगावत के बीच में
 उभरती, मूर्तित होती,
 आरकिस्ट्रा सजाती-सँवारती,
 आम आदमी के मन की
 खुशी-सी, आशा-सी, एक किरण-मानवी
 गुँजाती आसावरी का मंद स्वर—
 साकार होता यों कि :
 'स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
 दूर-दूर तक फैल रहीं,
 शरद् इंदिरा के मंदिर की
 मानों कोई गैल रही ।'...
 क्षण-क्षण, कण-कण, कैसा लगता
 विच्छिन्न दर्शनयंत्र
 या, आवृत्तिदर्शी यथार्थ-दृष्य
 यानी, 'स्ट्रोबोस्कोप' जैसा
 अति संवेदनसंकुल, सही-सार्थक ! ...
 और, फिर दिखने लगे
 क्रॉस पर लटके कपाल
 अचानक, बनते
 नव जीवन दाता प्रकाश-पिंड ! ...
 और, अतलांत एक खड्ड को रौंदता,
 ऊपर आता, एक असंख्याकार भव्याकार
 महानाद करता कि :
 'मैं ही हूँ मनुष्य के
 अनवरत अनथक क्रिया-कर्म का
 एक अशिनाखत प्रतीक—ईश्वर ! ...
 वो देखो,
 काली कोठरियों में
 काले मुँहवाले क़ैदी सिर पीटते...
 देश-द्रोह के परिणाम-प्रायश्चित्त के
 अरे, कैसे ज़िंदा प्रेतिल प्रतीक लगते हैं ! ...
 रंग-विरंगी किरणों ने कैसा घैर लिया

विशालाकार, कलमुँहा, आदमखोर,
घूरता हुआ, खूनी-खूँखार, ख्याल ! ...
सच, कत्लेआम की काली रात
आते-आते, अचानक,
उल्टे पैरों लौट गई ...
अठ्ठाईस बरस बाद, जैसे,
एक नई सुबह हो गई !



जगमगाती जगहों पर
सैक्स का शिकार खेलतीं
गोरी-चिट्ठी वेशुमार विल्लियाँ ।
पेशाब की धार से हाथ धो-धो कर,
मुँछों पर ताव देते, नौजवान गीदड़ ।
पश्चिम के आकाश से झपट्टा मारते
खूनी-खौफनाक बाज़ ।
गला फाड़कर
इन्कलाब के नारे लगाते, भूखे भड्डुए ! ...
जगह-जगह, भेड़ों के झुंडों में,
झूमझूम कर भाषण झाड़ते, भालू-भेड़िये ! ...
अचानक, छत से छलाँग लगाकर एक आदमी
गिरा, सीधा सीने पर, धम्म-से
और एकदम, तनकर, खड़ा हो गया
जैसे, मंच पर, साक्षात् कालसेन-सा ...
फिर, मुसमुसी मुखमुद्रा में भाषण झाड़ने लगा:
भाइयो,
हार्टफेल-हार्टऐटेक, या किसी भी किस्म की
आक्समिक मौत तो ज्यादातर होती है
आम आदमी की ! ...
मगर, मरता नहीं है, अक्सर,
काला धन छिपाए

आलीशान इमारतों की छतों से छलाँग लगानेवाला
 मुझसा कोई भी (मक्कार) मनुष्य ! ...
 देखो, मेरा जिस्म मढ़ा है मनो रेशम से
 सिर से पैर तक । ...

अरे, हरिश्चन्द्र की औलादो ! —
 हम जैसे हरफनमौला तो होते हैं सिद्ध
 हर हादसे में—शाकप्रूफ ! ...

फिर आवाज को बंद करने के लिए,
 गले को जकड़ती जखमी नागिन ! ...

(टप-टप, खून टपकातीं
 कुणाल और पृथ्वीराज की आँखें
 आजकल, कदम-कदम पर, कैसी छटपटाती हैं । ...
 उफ़ ! —वारूदी सुरंगों जैसे काले कारनामों के
 रंगीन उजालों में

आत्मवानों की आँखें निकालने का
 त्रासद् तमाशा, शबोरोज होकर भी
 कितना रोमांचकारी होता है !)

और फिर, अचानक,
 उठा अद्भुत अंधड़ । ...

रहस्यमय प्रभामंडल में मौज मारते
 ताजधारियों के क्रीमती ताज
 उड़ने लगे काले-काले कनकौओं-से ।
 फिर आया अद्भुत भूकंप । ...

टूटने लगे विशाल-विशाल
 भूभागों को जकड़े हुए
 परंपरागत पुख्ता परकोटे ।

फिर, अद्भुत कड़क, कौंध । ...

चारों तरफ चौकन्नापन, चीता-सा
 पहरा देने लगा बगावती चौराहों से
 तिलिस्मी तहखानों तक । ...

जल उठा जन-जन को घूरता-घेरता,
 कालपाशी काँतार :

फिर, अद्भुत उजाले में
 नज़र आने लगे, जगह-जगह,
 लुकते-छिपते, बम रखते हुए, नकाबपोश ।
 फिर, अरती आती, जीपों ने
 घेर लिया नकाबपोशों को ।...
 और फिर, बजने लगा
 कुंडलाकर स्याह साँप-से
 सन्नाटा भरे-डसे सीने में
 राष्ट्रीय रक्षा का रणसिंघा ।...
 हड़बड़ाकर, आँख खुली तो देखा,
 दरवाजे के आगे, दरोगा खड़ा है ।



चलते-फिरते विद्युत-शवदाहगृह ।...
 जलने वाले ज़िन्दा शवों की
 लम्बी-लम्बी लाइनें ! ...
 जलते जिस्मों पर
 माहौल में मल्लाती-चिचिआती चीलें ।...
 चर्वी-खून-हाड़ों के चड़चड़ाने-चटखने की
 बीभत्स-विस्फोटक ध्वनियाँ ।...
 दमघोटू धुआँ-बदबू-चिरायध ।...
 ध्वंस-दहन के इस काले दौर में
 पूरब में, दूधिया झरने जैसा
 विराट् बिम्ब उगा-उभरा
 विनाश-विध्वंस के मुँह पर उजाला थूकता...
 और, जले मलवे की
 धुएँ-कुहरे जैसी जमी-छितरी राख को रौंदता
 ज़र्रे-ज़र्रे को जगमगाता जाता ।...
 फलक के सीने में दाँत गढ़ाए
 खोफ़नाक, काले-काले पहाड़ पर
 नंग-धड़ंग, खड्ग खींचे, खड़ा कोई आग भभकता आकार

खतरनाक ख्याल जैसे
 मूर्तमंत, मुंह फाड़े, विनाश-विध्वंस से जूझने को आतुर ! ...
 सामने, भारी भीड़, बारूदी साजिश भरी ...
 बड़ा जंगी स्याह शकट, शववाहन-सा ...
 भीषण नाद करता महायंत्र मूर्तमंत मनहूस
 यों कि हिनहिनाता हो 'हारर' हर तरफ़ ! ...
 मायावी महामंडल में दिव्य दिखता
 कुचला-कुचला कथई-नीला शव
 जिसकी बगल में लेटा
 पल-पल पीला पड़ता आदमी आहूत्
 उठा अचानक (डढ़ियल साँप-सा)
 प्रत्यंचाओं पर तीरों-सी तनी-तनी
 ताप-भाप छोड़ती शिराओं के साथ
 (सूर्य-गैसों के गर्भों को मथकर निकलता
 नया नील्स वोहर जैसा)
 तमक कर, तन कर, चीखा यों कि
 ज्यों गिरी हो चीखती बिजली
 मायावी आशियाने पर ! ...
 विस्फोट हुआ ऐसा भीषण कि
 लगा, कोई बम फटा हो तीसरे महायुद्ध का—
 सोये समुद्र-सा सन्नाटा सब तरफ़ ! —
 भयभरी भागती भीड़ यों कि ज्यों
 गर्क होती हो लपटों-लिपटे
 धधकते-धुधुआते-पिघलते
 तूरतुल्य पहाड़ के लावे में
 बर्बर विशाल स्याह सेना चक्रव्यूह वाली । ...
 ओह, पिसे हाड़ों के चूर्ण वाला प्रदेश जैसा
 सड़ा-बुसा-बदबूदार
 आँतों का प्रेतिल-पुंजवत् पुराना परिवेश
 परिवर्तित होता राख का द्रोप-सा । ...
 सिलोलाइड जैसा धू-धू जलता
 नंगी चाँदनी, नंगे आकाश का

संभोगरत शहवती नज्जारा ! ...
 ध्वस्त स्याह शकट, मनहूस महायंत्र
 फटी धरा, धसते आतताई ...
 उफ़ ! कैसा विशाल वीभत्स-विकाराकार
 विशाल मुंडों मंडित महायंत्रागार खुला
 जहाँ जलते जिस्म लावारिस लोगों के
 और, लाल-पीले-नीले-स्याह सघन अक्सों में
 राख होते शहर सामंती-सुनहरे
 राख होते मशीनोत्सवी-मीनाबाज़ार
 मक्कारियत-मसीहाई मढ़े मनोरम महानगर मौजूदा । ...
 अरे, कैसा जलता जाता जल्दी-जल्दी जलने वाला
 जवाहराती जगमग जल्वा सम्मोहक
 राख के अंबारों पर नज़र आते यों कि ज्यों
 दूधों नहाते सपूत
 सबके सब सुकरात, गौतम, ईसा, मुहम्मद-गाँधी ! ...
 नज़र आते हरियालियाँ भरे
 विशाल वक्षों में
 हरे-हरे रोमानी द्वीप-द्वीप-द्वीप—महाद्वीप ! ...
 फिर, जले-झुलसे जिस्म वाले लावारिस लोग
 लगने-लगे नए खून से संचित-रंजित
 सोमपान करते, अग्निहोत्र रचते, साक्षात्
 मंत्रोच्चरित भव्याकार आदिम असल आर्यवंशी ! ...
 उभरता जाता, नया-से-नया अद्भुत परिदृश्य
 कैसा गुलाबी-गुलाबी—हैरतंगेज
 कि संतरई सूरज के विलक्षण बिम्ब से
 होते प्रतिबिम्बित
 छोटे-छोटे सूरज संख्यातीत
 (यों कि हों धूल-मिट्टी में मिले-खेलते
 रत्नों से चमकीले बच्चे !)
 और फिर, पीला पड़ता आहूत आदमी
 एकदम, चल पड़ा अवशिष्ट ध्वस्त कोरौंदता
 असीम, ऊर्जस्वित अवतारी पुरुष के मानिंद । ...

मिला, बाँहें खोलकर
 लपटों-लिपटे महालिंगाकार से ! —
 (अरे, यह तो वही था
 कुचला-कुचला कल्थई-नीला शव मानवीय ! —
 यही नहीं क्या लघु-विराट् बिम्ब—ईश्वरीय !)
 विराट् फलक पर कैसे खिल-खिल करते
 रंग-विरंगे असंख्य अणु-परमाणु—
 ओह, असंख्य दल-कमल ! ...
 हर तरफ, रेखांकित रश्मिल-रश्मिल
 हंस-हंस-हंस—सोऽहं ! ...
 घुप गुफा
 जहाँ गड़ा आग्नेय त्रिशूल (कवि गिन्सबर्ग वाला)
 जिससे जला-झुलसा
 गंदे गटर के पास पड़ा
 मूर्तमंत, मृतप्राय मृत्युबोध—पागल कुत्ते-सा ! ...
 बाह, चारों तरफ दिखा—
 मुद्दत से मुरझाया...
 मुसकराता पलाश का विराट् वन
 जो, जैसे हो मेरे ही होने का साक्षात्
 पल्लवित-पुष्पित उन्नयन
 लघु,—विराट् हुआ आत्माभिव्यंजन ? ...
 पूरब में, चमचमाते मंगलकलश से,
 झरने का जैसा झरता
 पारदवर्णी-पारदर्शक जल
 नई ज़मीन और नई ज़िन्दगी की (को)
 कितनी अद्भुत ऊष्मा देता है ! —
 ब्लड-ट्रांसफ्यूजन के मानिंद ! ...
 'आधुनिक' ! —चमकीले क्षितिज जैसा—
 जहाँ कारखानों में दिखता
 रासायनिक खाद बनता आदिम भेजा
 खुशगवार संभावित सै खेतों में
 रासायनिक खाद डालती

खुशहाली की जीती-जागतीं,
 खिलखिलातीं, प्यारी-प्यारी, प्रतिबिम्बनाएँ—
 अरे, असल में, अनाजप्रसू—पकी फ़सलें; —
 भूगोल-खगोल के
 असीम अंतराल में, सेतु-सा, उभरता
 ऊर्जस्वी आदमीनुमा सैयारा ! ...
 ओह, दृष्टि में
 पूरब से पश्चिम तक
 प्रकटता प्रभामंडल । ...
 प्रकटता एक ज्योति-पुरुष
 पसीना पोंछता ऐड़ी से चोटी तक ...
 और, सुदूर, सामने, पुछता-पुछता
 एक सिलेटी समतल विशाल, मनहूस,
 जिसकी जगह, फ़ालसई फ़लक पर
 उभरते दिखते दूधिया दृष्य दिलकश
 एक नयी-नयी दुनिया के—
 गुलदस्तई गाँव-गाँव, खेत-खेत, घर-घर,
 नगनुमा नगर-नगर
 किरणमई डगर-डगर
 मरकती महानगर
 मणि-माणिक-मुक्तई
 शकल-शकल मानवी । ...
 जुगनुआते जिस्म जैसा जन्मता
 इलेक्ट्रोनिक-दर्शन ! ...
 दिल को छूती-छेड़ती
 किरणों की कविता !
 (वाह, विज्ञान-बोध में भी
 विराट्-बोधक कैसे-कैसे अद्भुत
 उपमान-मानक मिलते हैं ! —
 'जिन खोजा तिन पाइयाँ
 गहरे पानी पैठ !') ...
 जरूरत से ज़्यादा उभरती

नई चमक से चमत्कृत
 आँख खुली तो लगा
 दरवाज़े पर
 दूधवाला आवाज़ लगाता है—‘दूध लो’ !



दुनिया के लथपथ नक्शे को
 खंजर की नोंक पर लटकाए
 खौफ़नाक, खुफ़िया, गोरा आदमी
 सामने तनकर खड़ा हो गया ! ...
 (भयानक !—अपने मूर्त आकार में
 शास्त्रीय रसबोध के बारे में
 गंदी-गंदी गालियाँ बकता
 क़त्ल पर आमादा क्रूर क्रांतिल-सा
 खुखरी चलाता, चहलकदमी करता
 अवचेतन से चेतन तक
 आदमी को किस तरह,
 किस क़दर, आतंकित करता है—तोबा ! —
 संत्रास की चरम सीमा पर
 अभिव्यक्ति के शातिर-से-शातिर शब्द भी
 पक्षाघात पीड़ित—
 कैसे मरीज़ों से लगते हैं !)
 मैंने धिधियाकर पूछा :
 “ऐ, कौन हो ?” ...
 बोला :
 “मैं हूँ, काली खाल के भीतर भरे
 आदमी के खून का तस्कर-प्रेत ! ...
 देखो, खंजर की नोंक पर लटका सिर
 काले आदमी की त्रासदी का
 वह ख़तरनाक प्रतीक है
 जिसे खुश करने के लिए

दुनिया में अमन-शांति का
 लोमहर्षक स्वाँग होता है ! ...
 बड़े-बड़े कलम के कीमियागर इसमें
 ठाठ से, अपना-अपना रोल अदा करते हैं ...
 जिसकी आड़ में
 मेरी सत्ता का विस्तारवादी सुख
 नफ़रत और हिंसा की
 खनी खाई के साथ-साथ
 बराबर बढ़ता गया है । ...
 मेरी खुदाई में खुदा खूब खामोशी से
 मेरा आदाब बजाता है । ...
 ख़बरदार, काली चमड़ी में
 काले खून भरे कुत्ते इंसान ! '...
 इन शब्दों के साथ तेग ताने
 वह मेरी तरफ ज्योंही झपटा कि
 घबराहट में मेरी आँख खुल गई ! ...
 देखा, मेज़ पर पड़े अखबार में
 दक्षिण अफ्रीका के जुल्म की सुर्खी
 हृद से ज़्यादा गुज़र गई है : ...

फैला हुआ विशाल सुनहरा डेना
 अचानक, खील-खील हो गया ! ...
 नीचे से निकले
 बेशुमार, ज़खमी इन्सान
 कंधों पर लाशें लिए हुए
 'ज़िन्दाबाद' के
 गगनगुंजी नारे लगाते ! ...
 फिर, शुरू किया उन्होंने
 सोने के चमचमाते सिक्कों पर
 थूक-थूक कर

उन्हें, पेशाबी दुर्गन्ध वाली हवा में उछालना
 और, इनमें से हरेक सिक्का
 जहाँ-जहाँ गिरता था
 वहाँ-वहाँ, जमे हुए
 खून के चक्ते पर खड़ा, बंदूक ताने,
 एक-एक आदमी बन जाता था ! ...
 जो गरजता था :
 'मैं हूँ महज
 शहीदों का रूहानी बिम्ब !' ...
 फिर, चुटकी भर, मिट्टी माथे पर मलकर
 पिरामिड या मकबरा बन जाता था ! ...
 और, वे ज़ख्मी इन्सान
 जो कंधों पर लाशें लिए थे
 गगनगुंजी नारे लगाते बढ़ने लगे
 बंगाल की खाड़ी की तरफ़
 जयजयकार करते जनमुक्ति जगदम्बा की : ...
 जिसकी चमत्कृति से
 मिलने लगे दो जल-महामंडल
 अद्वैत के द्विधारहित अर्थ में ! ...
 जुड़ने लगे दो उप-महाद्वीप
 जिस्म की हड्डी के दो टूटे हिस्सों से ! ...
 सब तरफ़, त्रिपुर बन गया, तीन महाद्वीपों का ! ...
 और, अचानक
 मेरी मेज़ पर रक्खे शैवागम पर बैठा
 एक औघड़ पुराण-पुरुष
 प्रवचन करने लगा :
 'ओ मुर्दे ! उठ, और देख
 त्रिपुरदाह का दाहक-दर्शन ! ...
 जब त्रिपुरदाह होता है
 तब भूगोल की,
 कूटनीतिक सारी सीमाएँ टूटती हैं । ...
 हाँ, एक दिन जरूर भड़क उठती है

एक ऐसी अद्भुत आग
 जिसमें जिंदा-जलता हर मनुष्य
 अपने आप में हो जाता है
 साक्षात्, भीषण अग्निकांड ! ...
 जिसकी परिणति के पास-पास होते-होते
 साक्षात् महान् मूल्य हो जाता है
 मामूली दिखता मांस का मनुष्य । ...
 यों, आधुनिक बनता रहता है पौराणिक लंकाकांड
 नितांत सजीव-सार्थक-सटीक ! ...
 शोला-शोला-सा दहक उठता है हर जुल्म ...
 राख के ढेर हो जाते हैं
 सोने के शानदार नगर-महानगर ! '...
 मिलों-मशीनों में
 खेतों-खलियानों में खपते-खपते
 जैसे, गाढ़े खूनसने खप्परनुमा असंख्याकार
 खतरों की सायरन-ध्वनियों के साथ
 पश्चिम से आते (सहायता-सुरक्षार्थ !)
 अन्न-आयुधों भरे जंगी जहाजों पर
 अचानक, गजब का धावा बोलते, ध्वस्त करते ...
 रौंदते जाते विशाल वासंती वन
 रौंदते जाते राजसी पथ—
 भीतर-भीतर बारूद भरे
 और, ऊपर-ऊपर
 जशनों-जुलूसों-जगमगाहटों वाले ! ...
 ढहाते जाते संगमरमरी
 नए-पुराने परकोटे,
 गढ़-गुंबद, महल-मीनार (फराऊन-युगीन !)
 महान् इबादतखाने-पूजाग्रह—पागलखाने ! ...
 अरे, कदम-कदम पर कैसी भयानक
 लूट-लपट-लपलपाहट ! ...
 शीतयुद्ध के मूर्त होते-से
 मशीनमढ़े खतरनाक ख्याल से जूझता-जूझता,

बाह, कैसा मुक्त होता नजर आता है
 रक्तरहित, मांसनुचा, भूखा-नंगा मौजूदा मनुष्य ! ...
 अरे, होती है मुक्ति मांसल महसूस कुछ-कुछ
 मुकम्मल मौजूदा मनुष्यता ...
 होती है मुक्ति मांसल महसूस कुछ-कुछ
 नजरंदाज या गैरहाज़िर
 या 'नहीं' कही जाने वाली आत्मा : परात्मा ...
 होती है मुक्ति मांसल महसूस कुछ-कुछ
 निम्नतम् ऊर्ध्वगामी चेतना प्रगतिधर्मी—
 मानवानुभूति भौतिकी—ईश्वरानुभूति ! ...
 'हाँ, एक दिन जरूर
 मनुष्य में मुक्ति
 असंख्यमुखी आग बनकर
 आद्वान करती है सबका, सब तरफ़ !
 देख, जहाँ-जहाँ त्रिपुरदाह होता है
 वहाँ-वहाँ जनमुक्ति जरूर,
 एक नया इतिहास—
 एक नया भूगोल जन्मती है । ...
 इस सदी का उत्तरार्ध
 इस दावे का चश्मदीद गवाह है ।' ...
 और, इस प्रवचन-ध्वनि के डूबते ही
 इस दावे के प्रवक्ता से मिलने
 ज्योंही मैंने बाँहें बड़ाई, कि नींद टूट गई ।
 देखा, सीने पर कोरा कागज़ रक्खा है
 और, हाथ में लाल क्लम है ।



असंख्य अंकों में रले-मिले
 खून के खप्परोँ जैसे कुछ अंक
 खलीफ़ा लोगों की शकलें अख़्तियार करने लगे !
 मुहब्बत की नज़रोँ से देखता-देखता
 एक सांस्कृतिक बिंब
 शेर की छलांग की तरह,
 बदल कर, बन गया
 जंगी तोपों के दहते दहानों का दहशती दृश्य !
 पड़ोस में सुनाई पड़ने वाला संगीत
 कट्टर-कर्कश ध्वनियों में बदल गया ! ...
 उत्तरी शैल-शिखरोँ-खंदकोँ-खाइयों में
 'चीं-चीं'—नृशंस नाद करते
 महिषासुरमर्दिनि और वाग्देवी के
 चढ़ाए भव्य मुखौटों में से उभरते
 फ़ौजी अफ़सरोँ के खूनी-खोफ़नाक चेहरे ! ...
 काले आसमान से
 काले समुद्र में गहरा गोता मारते
 काले-काले जंगी जलपक्षी, गारत करते
 समुद्री सीमाओं पर पहरा देते
 पोतों-पनडुब्बियों को । ...
 (अरे, बड़ा दिलफ़रेब होता है
 दोस्तीनुमा दुश्मनी का नाटक !) ...
 वह देखो !
 सदियों बूढ़ा खानाबदोश, खोह से
 खिलखिलाता हुआ बाहर निकला
 जिसके इस्तक्रबाल में
 जैसे, झुकी सारी क़ायनात
 और, नक्शे की करीब आधी दुनिया

उनके अक्स से अभिभूत हो गई
 जिनके एक हाथ में
 नंगी तलवार थी, और दूसरे में तस्वी ! ...
 आसमानी अक्सवाला, अवतारी जैसा,
 कोई पुराण-पुरुष
 अलख जगाता जाता था :
 'स्वधर्मो निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' ...
 पूरब दिशा में उभरता-उभरता
 सुख-अक्स रोशनदानों से कूदा
 और, उन काले कमरों में घुसकर जूझने लगा
 जिनमें इन्सानी खोपड़ियों के कातिल-तस्कर
 देशद्रोह-ग्रहयुद्ध की संगीन साजिश कर रहे थे । ...
 बगावत बनती भीड़
 बदल गई भेड़चाल में ...
 हंगामे-हरामीपन के तमगे लगाए
 सीना तान-तान कर नारे लगाते
 आगजनी-लूटपाट-मारधाड़ पर आमादा लोग
 लगने लगे कुछ इस तरह के जैसे,
 लकलक करते कोड़ों के डर से
 लीद-पर-लीद करते घोड़े हों ! ...
 अचानक, आलीशान बँगलों की जगहों पर,
 जंगी जेलों के फाटक खुले
 जिनमें वे लोग बंद किए जाने लगे
 जिनकी बगलों में
 लोकतंत्र की लाश के कफ़न
 बैनरों की शकल में बरामद हुए थे । ...
 फिर, मंदिर की ड्योढ़ी पर, फूलमालाएं लिए
 मक्कारी मुद्रा में मीरापन मढ़े, एकदम,
 एक कपूरी आकृति, अचानक,
 संगमूसा की आकृति में बदलकर, मेरी तरफ़,
 लाल-लाल जीभ निकाले झपटी
 और उसने, एक करवट में,

कसकर दबोच लिया ।...
 मुझे महसूस हुआ
 उसके रोम-रोम की जगहों पर
 कई-कई सिंहनख उगे हैं ! ...
 उसकी खाल, जैसे बारूद बिछी पल्ट है...
 जो, मेरे जिस्म से लिपटकर,
 संवेदनों के उन सभी तत्वों को सोख रही है
 जिनके बिना आदमी का जीना
 मौत से ज़्यादा जोखम भरा होता है ।...
 हां, एक करवट के साथ, उसने दबोच लिया मुझे...
 मगर, मैंने जद्दोजह्द की उसके सिंहनखों
 और, बारूदी खाल की चुभन-जकड़न से ! ...
 (उफ़—जनक्रांति के जादुई जामे में कूटनीति
 कैसे-कैसे गुल खिलाती है कि
 कभी-कभी तो बेड़ा गर्क हुआ लगता है
 क्रौम का, वतन का, आम आदमी का ।...
 और, ज़िबह होते जानवर की तरह
 चीखता, छूटने को छटपटाता—
 आज़ाद होने का, जीने का, हक़—हर तरफ़ !
 और यह भी कि
 अक्सर, त्रासद दौर से ही शुरू होता है
 स्याह सुरंगों में घिरे-भटके
 आम आदमी की आज़ादी का
 सूर्योन्मुख प्रशस्त-पथ !)
 अचानक, उड़ते सांप के 'श्यां' के स्वर-सा
 अखबार सिरहाने आ पड़ा...
 और, नवजात शिशु की
 खुलती आँखों की तरह, मेरी आँखें खुल गई !

○

सुनहरे पहाड़ की चोटी पर चलता
 तूफानी तेज रफ्तार से
 रंदानुमा एक पैना पंजा !
 सुनहरा पहाड़
 बनता हुआ सुनहरा बुरादा
 सुनहरा बुरादा
 बनता हुआ सुनहरा समतल...
 और, अचानक, सुनहरा समतल
 बन गया एक सुनहरा देश !
 (यह, शायद, मेरा देश था ।—
 चिमचिमी, कंजी आँखों वाले शातिर साहबलोग
 इसे कभी कहते थे सोने की चिड़िया ।...
 हरामखोरों के विशेषणों में भी
 कितनी काइयाँ कविता हो सकती है !)
 सुनहरा देश, यानी मेरा देश—
 'सपनों का प्यारे ! ...
 पीछे से 'ठकठक' करती तिलिस्मी उंगली
 खोपड़ी में घुसने लगी ! ...
 रफ़ता-रफ़ता खोपड़ी में सूराख हो गया
 जिससे होकर जमा ज़हर
 'झ्याँ-झ्याँ-झ्याँ'—बाहर निकल कर
 भाप भरा दरिया बन गया ।...
 जिसकी बाढ़ में बहने लगे
 रंगबिरंगे आकाश, मरकती द्वीप ! ...
 यानी, वैसा सब कुछ बहने लगा
 जो हसीन-सुंदर-व्यूटीफुल—
 यानी, व्याख्यातीत होता है ।...
 और जिसे

धरती धारण करके निहाल होती है ।...
 और हाँ, फिर, इसी वाद में,
 अचानक, बहने लगे नरभक्षी बाघ-नर,
 ढहने लगे आलीशान किले,
 डूबने लगे वे वाहन
 जिनमें से कइयों में
 आदमियों की हड्डियों के ढाँचे भरे थे,
 कइयों में मोटे-मोटे पोथे-पुराण
 कइयों में वे बुत, वे चित्र, वे पुरातत्व-प्रतीक
 जिनके करिश्मे से
 कई मरी हुई, या मृतप्राय, संस्कृतियाँ,
 अकसर, नई सभ्यता की चकाचौंध में
 ज़िन्दा लगती हैं ।...
 हाँ, डूबने लगा बहुत-कुछ
 इस अद्भुत किस्म की वाद में
 (अरे, कभी-कभी कोई बड़ा हादसा
 पौराणिक प्रलयवर्णन वाली
 खंडित ख्यालों की फ़िल्म का
 खूनी-खतरनाक 'ट्रेलर' जैसा
 कैसा खसामखास, खुद से सम्बद्ध,
 हकीकतन, महसूस होता है ! —तब,
 जब भेष बदले-बदले
 बड़े-बड़े बिच्छुओं-केकड़ों जैसे जहरीले
 साजिशप्रूफ गुप्तचर
 समय के साथ-साथ, सदा,
 आगे-पीछे दाएँ-बाएँ-सक्रियता से,
 खूनी खतरों-षड्यंत्रों की
 तवारीखी डायरी लिखते रहते हैं ।...
 तीरबिद्ध पौराणिक मुखड़ा-सा
 बिंधा-बिंधा महसूस होता है
 नई कविता की
 कोरी सपाटबयानी-सी बकवास करता

भविष्य का काला मुंह—मनहूस !)
 और, यह बाढ़
 बेशुमार झोंपड़ियें, नंगी लाशें लिए
 जब घर-घर में
 और, मेरे घर में भी घुसने लगी
 तो हड़बड़ा कर मेरी नींद टूट गई ।...
 और अचानक, अप्रत्याशित, रेडियो से खबर सुनी
 मुत्क में लागू हो गई है आपत्कालीन स्थिति !



धूमकेतुओं की भीड़ में भटकता-भटकता
 एक ज्योति-पिंड छिटककर
 अचानक हिमखंड-सा जम गया !...
 जिससे बने जलमंडल-पहाड़-पंपास—
 जैसे 'विराट्,' सिकुड़कर
 बन गया एक शब्द ! — (शब्दब्रह्म !)...
 एक अद्भुत आँख
 जिसकी सफ़ेद सतह पर
 पुतलियों-सी प्रतिभासित-नर्तित
 असंख्य प्रतिबिम्बनाएँ, काइया द्वीप,
 धुपैले रेगिस्तान, धुआरे बादल,
 हामला हरियालियाँ ।...
 अचानक, आगे-आगे, भविष्य-सा बढ़ता हुआ,
 हड्डियों जुड़ा, मांस-मज्जा मढ़ा
 एक जुगनुआता जिस्म !...
 जो घुसा एक अँधेरी बस्ती में
 और, एकदम जगमगा उठी वह बस्ती ! —
 कितनी-कितनी ज़्यादा
 मैगावाटी मिगदारवाली बिजली से
 बहुत-बहुत ज़्यादा जगमगाती

वह बिजलीनुमा बस्ती ! ...
 दूर, घुप अँधेरे, खूखार खंडरों से,
 ममताभरे-मिलनातुर—
 बाँहें खोले, उभरते आते, इलैक्ट्रोनिक इंसानों के
 जगमग-जगमग परिरूप ! —
 (भव्य भविष्य का सम्भाव्य, सच,
 कैसा सच्चा-सगा-सम्मोहक होता है
 मानव-जिजीविषा के लिए !) —
 नए-से-नए यंत्रों से युक्त
 वह नई-से-नई बस्ती
 भीगी-भीगी मसों, नए-से-नए तेवरों,
 ताज्जा अनारों-सेबों-संतरों-से चेहरोंवाले
 नौजवानों की वह अद्भुत बस्ती ! —
 जहाँ, जैसे, जगह-जगह निर्मित होता
 मनुष्य का स्वर्गिक वास्तुशिल्प—आरकीटेक्चर ! ...
 जहाँ जैसे, आत्मा का अदृश्य
 रूपायित होता हर पार्थिव दृष्य...
 जहाँ, जैसे, मनुष्य का पुरुषार्थ
 प्रकृति का रहस्य-रोमाँचकारी प्रावृत्त उठाता,
 पृथ्वी पर नया रूप धरता—परमेश्वर ! ...
 और, जुगनुआता वह जिस्म लगने लगा
 गिज़ेह के पिरामिड का
 एक आधुनिकतम् सुनहरा संस्करण...
 जिस पर आतिशी अक्षरों में खुदा था :
 "Here. I am creating
 New heavens
 And a new earth"...
 और, अचानक, नज़र की सतह से उतरता अक्स
 लगने लगा, चलता-फिरता,
 आधुनिकतम् अद्वितीय अजायबघर
 जिसके इर्द-गिर्द, पोजीशन लिए
 टैंकों-तोपों वाले विशाल मारक मोचे

पलक झपकते बदल गए जनमंगल के मेलों में ।
 उड़ानें भरते सफ़ेद कबूतरों के डैनों से
 हर तरफ, हो गया दूधिया वातावरण
 लोकधुनों से भर गया, भयभरा सन्नाटा...
 और ऊपर, अनेक उपग्रह-चंद्रयान
 चक्कर काटते हुए, बरसाने लगे
 ऐसे रंगों-गंधों वाले फूल
 जैसे, पहले कभी नहीं देखे थे ।



खून के धब्बोंवाली, सफ़ेद साड़ी पहने
 बाल बिखेरे, नुचे-नुचाए गालों
 चुसे-चुसाये होठों वाली, अस्त-व्यस्त,
 जवान औरत घर में घुस आई ! ...
 अचानक, खून की फुहारों के साथ
 कुछ पंखकटे जटायु
 तड़फड़ाते हुए आगे आ गिरे ! ...
 फिर, दर-दीवारें तोड़कर,
 खून में सनी तलवारें ताने
 चेहरों-पर-चेहरे चढ़ाने वाले
 रामलीलाओं में देखे
 रावण-कुंभकरणों जैसे बड़े डरावने लोग
 झुंझला कर झपटे ! ...
 घर, बदबूदार शपथों से भरे
 विशाल भवन में बदल गया...
 जहाँ, खास लांबी में,
 सजी-धजी, उल्टी लटकी लाश के साथ
 पद-प्रतिष्ठा से सम्मानित-सुशोभित
 विशिष्ट वर्ग के कुछ लोग
 बारी-बारी से बलात्कार करते जाते थे । ...
 फिर, नवयुग की क्रांति के

धर्घरनादी नारे लगाते, तालियाँ बजाते,
 हावभाव दरसाते नाचने लगे
 नंगा नाच, भडुए और जनखे ।...
 पूरा परिवेश लगने लगा
 आम आदमी की खुली हत्या का
 एक आलीशान कत्लगाह ।...
 और, आजादी का क्राँमी अर्थ-अहसास
 धरने लगा, हर तरफ़,
 अराजकता का विध्वंसक-वीभत्स-विद्रूप-रूप ।
 (उफ़ ! —किसी क्राँम को, वतन को,
 कैसा विध्वंसक-वीभत्स-विद्रूप-रूप बन जाता है
 अक्सर, आजादी का
 अ-अनुशासित, अभिव्यक्त अर्थ-अहसास ।)
 और, बाहर, पेट-पीठ मिले
 ('कवि निराला' के भिखारियों का नहीं)
 विद्रोहियों का विशाल हज्जूम
 बंदूकें ताने बढ़ा चला आता था ।...
 धुआँ-धमाका-ध्वंस ! ...
 सामने, स्याह सुरंग में, धुआँ-धुआँ
 धुधुआता शानदार शहर ! ...
 सचलाइंटें लिए
 पत्थर की बौखलाई आकृतियाँ
 आग लगातीं ताजमहलों में ।...
 (अरे, कैसा कुबड़ा-कुबड़ा, लाक्षाग्रह वाला,
 वेबुनियाद आता पौराणिक ख्याल...
 मगर, मलाल-ही-मलाल कि काश
 कभी तो जलता आँखों के आगे भी
 असलियत में, ऐसा ही, महानगरीय कुछ—
 जैसा जला था
 जारों-लुइयों के महलों-सा, रोम-सा ।...
 ओह, विद्रोही बिम्बों से जूझते वक्त
 व्यक्ति का कोरा पौराणिक ख्याल

किसी पोंगा-पंडित के कूबड़ जैसा
 कैसा प्रतीक लगता है बदकारी का !)
 धू-धू-धुधुआता हर हसीन नजारा । ...
 जमे-जमे खून की मोटी पर्तवाली
 एक जगह पर, नर-सिंहाकार,
 जंगी जबड़े फाड़े
 दाढ़ों में दबांचे, चीरते-फाड़ते
 अद्वितीय कलात्मक बिम्ब को !
 बिम्ब ! — बाणबिद्ध तलवे वाला, साक्षात,
 महाभारत में वर्णित कृष्ण का ! ...
 (उफ़ ! बिम्बों में चलता-फिरता
 बोलता-चालता सत्य
 अँधौए कूँए-से अवचेतन में
 कैसा मरकरी बल्व-सा जगमगा उठता है !)
 बर्दाश्त से बाहर
 विद्रोही बिम्बों में भड़की-भड़की
 जन-व्यवस्था के विरुद्धों के विरुद्ध
 विशाल पैट्रोल-टैंकों में लगी
 आग जैसी जन-जाग्रति ! ...
 घबड़ाहट में आँख खुली
 तो घूरने लगी
 मेज़ पर पड़े अख़बार की सुर्खी—
 'फ़ाइट फ़ार सिविल लिबर्टीज़'

□

कमर से नीचे की कटो
 एक नंगी नारी-काया
 मेरे बिस्तर पर
 मेरी कमर से नीचे के
 ँंठे-अकड़े अंग से
 कैंची की तरह लिपट गई ।...
 जहर जैसा उफना सैक्स-सुख...
 यों कि, छाती पर जैसे
 दो कटहल-फल उगे-उगे !...
 सिर के ऊपर,
 जंगली भैंसे-सा भुनभुनाता
 मुटियाया-मरदूद मच्छर—
 टूटे-फूटे दाँतोंवाला
 बेहद बदशक्ल, बदमाश बुढ़ा बन कर बोला:
 'अरे, मेरे यार छैला ! —
 कमर के नीचे की कैंची का सुख
 जिन्सोंवाली, मुँह फाड़ती
 (मौजूदा) मँहगाई के मुकाबले
 बोल, कितना-कितना ज्यादा मँहगा पड़ता है ?'...
 योंकि कमर की कैंची के खिलाए गुलों से
 हर बशर में, शुरू से ही,
 जरूर नंगी होती आई है
 समूची सभ्यता-संस्कृति-आदमियत !...
 अनायास, डूबता-उतराता-सा
 आदमनुमा शब्द-शब्द...
 जैसे, जंगली जीव
 नथुने फुलाता, दाँत किटकिटाता
 घूरता, तमतमाता, कँपकपाता ।...

(अरे, कितना सहज-सगा-सच्चा-समर्थ होता है
 आदमी का, अपने होने का, असल में,
 असल अभिव्यक्त-अंश !
 मगर मोटे-मोटे
 महान् पोथों के तर्क-वितर्क—
 ततैयों-तिलचटों जैसे—
 बुद्धि के साथ
 क्या धड़ल्ले से बलात्कार करते हैं
 जवाहराती जगमगाते उन मंडपों में
 जहाँ, सभ्यता और संस्कृति की
 नंगी कायाएँ किस्म-किस्म के
 आधुनिकता के गुल खिलाती हैं)
 हजारों बरसों की खोखली
 बुलंदी गालिब करते खंडरों से
 लाखों बरसों की स्याहपोश खामोश खोहों से
 खाँसते-खकारते-खिलखिलाते निकलते
 नंगे नर-पशु-आकार ! ...
 पंजों-ऐड़ियों के बल तनकर खड़े, होड़ लेते,
 महानगरीय मज्जे लूटते
 अलख-निरंजनीय हरामी हिप्पियों के
 आधुनिक दार्शनिक नंगपने से ! ...
 अचानक, गर्द की सदियों मोटी महापत फाड़कर
 महामोटा पोथा-पुराण खुला
 (बृहदारण्यक—अध्याय छः, सूत्र आठ)
 मनुवाले मत्स्य के फटे जबड़े जैसा । ...
 जिसके बाम वर्क पर नंगी नहाती सोड्डी
 और दक्षिण वर्क पर महालिंग ताने
 उसकी तरफ घूरता-बुड़बुड़ाता
 अन्धिकारी-उद्धत एक पौगा पंडित । ...
 अचानक, दिव्य दिखते
 चतुर्मुखी वृत् के मुँह से
 दवे पाँव निकलता बलबलाता बिच्छू

और, उसने तनतना कर
 डंक डाल दिया अक्षत योनि में ।...
 फिर, होने लगे राजसी यज्ञ
 लगने लगे नौरोज़ी मेले...
 (अहा, नया वीररसीय नज़ारा ! —
 बादशाह के सीने पर सवार
 रजपूती वाला की कोमल कलाई में
 दौज का झूमता-झूमता चाँद—
 चमचमाता छुरा !)
 फिर, नाचने लगीं
 सुनहरे, सामंती, पीकदानों में पीकती,
 ठुमरी-दादरा की थापों पर थिरकतीं
 प्रदर-पीडित वेशर्म पातुरें ! ...
 फिर, खुले बदहवास मयखाने ! ...
 फिर, खुलीं
 पेशेवर जाँघों की चिकनाहटों के
 चस्कोंभरी जैसी
 ब्रांडी-व्हिस्की की बोतलें—लाजवाब ! —
 और फिर, इस तरह,
 जैसे झिलमिलाते झाड़फानूस में जलती
 मोमबत्ती के आखिरी हिस्से की
 लुटती चमकदमक की तरह शुरू हुई
 होटलों-रेस्ट्राओं में ग़ज़ब की गहमागहमी—
 आधुनिक-अत्याधुनिक ! ...
 वाह-वाह—
 कथक: केबरा: ट्विस्ट ! ...
 राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय
 नुमायशी हसीनाओं के चुस्त-उठे-उभरे—
 गदरीले-गमकीले जिस्मों के
 झन्नाहटी नाद में बारीक नाप-जोख, ब्यूटी-कंपटीशन ! —
 अचानक, बेशुमार, हड्डियों के ढाँचों ने
 धधकते-धुंधुआते, घेर लिया, काला किला होकर

गुलज़ार गुलशन-गुलशन
 बेमिसाल माहौल-माडर्न ।
 हाँ, ढहने लगीं आलीशान शीशोंवाली—
 ऐसी, जैसी हों इन्द्रयुगीन इमारतें ।...
 मंदिरों-मस्जिदों-चर्चों-गुरुद्वारों के
 भीतर से भाग-भाग कर
 ज़ख्मी-ज़ख्मी बिम्ब आए
 और, बाँहें पसार-पसार कर
 घन्ना-पीपा-रैदास-होरी-गोबर जैसों से
 ममताभरे मिलने लगे ! ...
 और फिर, यही ज़ख्मी बिम्ब बनने लगे
 कुछ ऐसे, जैसे—
 गीता, बाईबिल-कुरान में चमत्कारी शख्सियतें
 कुछ एक ही तरह से
 उगते-डूबते सूरज-सी हमेशा उभरती हैं !
 फिर, धरती की दरारों में धसने लगे
 सोने-चाँदी-हीरा-मोती मढ़े-जड़े, जल्वेदार
 आधुनिक महामानव—मसीहे ! (महामक्कार !)
 और फिर, आखिर में,
 उनकी जगहों पर दिखने लगे
 आदमक़द, बुद्ध-कबीर-गाँधी—
 लिंकन-लेनिन जैसे अंदाज़वाले
 जिंदा बुत—समाधिस्थ ! ...
 जिनके तलवों के तले
 गुलाबों के बेशुमार गुंछे बिछे थे
 और, सिर के ऊपर
 गुलमोहर बेहिसाब फूले थे !



काले चोगे में
 बड़े-बड़े बाहर निकले दराँतनुमा दाँतोंवाला
 बुड़बुड़ाता हुआ आदमी अंदर आया
 और, अपने खुरोंवाले हाथों को
 जिस्म से रगड़ने लगा ।...
 हरी-नीली-पीली-लाल
 छिटकती चिंगारियाँ, सब तरफ़ ! ...
 सब तरफ़, सब कुछ,
 कुछ इस तरह का
 जो जलता नहीं है—फ़ायरप्रूफ़ !
 अचानक, ऊर्ध्वश्वास लेते बुड़े बाप की
 कीलों जैसी ठंडी-ठंडी उँगलियाँ
 ठुकीं—‘ठकठक’ मगज़ में
 योंकि, गहरा खुद गया :
 ‘नैनं छिदन्ति शस्त्राणि
 नैनं दहति पावकः ।’...
 मगर, आग की चिंगारियाँ
 भयंकर होती गईं
 इतनी—जैसे मरघट में, बेशुमार,
 जली-अधजली चिताएँ चुड़ैलों जैसी नाचती हों !
 उफ़ ! आग की आकृतियों का नाच ! —
 अद्भुत से कितना-कितना अधिक ! ...
 इन आकृतियों से कितना-कितना लिपटा मैं—
 इतना-इतना कि
 अखबारी खबरों में पढ़े-जाने
 हीरोशिमा-नागासाकी जैसे
 कितने-कितने नगर, जलते-जलते,
 रोम-रोम से जकड़ गए ! ...

धमनभट्टी जैसे धधकते-धुधुआते
 खोपड़ी के खोखल में
 कितने-कितने यज्ञ सम्पन्न हो गए ।...
 इस एक-एक लिपटन में पढ़े-समझे,
 प्रागैतिहासिक-ऐतिहासिक-भौगोलिक
 कई-कई प्रकरण पूरे हो गए !...
 अग्निकांड की लपलपाती लपटों में
 होता गजब कि
 भस्म होने कूड़े-कर्कट के
 अंबार-पर-अंबार...
 भस्म होते संगमूसा-संगमरमर के
 महान मकबरे, महल, मोहक मयखाने !...
 बहुत-बहुत विशाल एक खोपड़ी में
 उभरतीं खनिज खानें खूनी (चासनाला जैसी)
 जिनमें चक्कर-पर-चक्कर काटता
 ताम्रवर्णी तमतमाते चेहरेवाला
 एक भव्य पुराण-पुरुष
 जिसके दिव्य दर्शन से
 'नैनं दहति पावकः' का गूढ़ार्थ
 साकार होता जाता 'आहुर मज्जा' जैसा...
 प्रतीक जैसा—पक्के निश्चय, सशक्त संकल्प
 और, अनवरत परिश्रम का !...
 हर तरफ़ की हवा
 होती जाती जीवनदात्री ऊष्मा
 साँस-साँस के साथ सीने में समाती ।...
 शरीर-सटी प्रेमिका के
 पहले-पहले आलिंगन की
 मीठी-मीठी आग होती जाती
 नए सृजन की इच्छा-शक्ति ।...
 अरे, सपनों में
 हर तरफ़ का
 अराजक-असंगत-अननुशासित

कुकृत्य-कुदृश्य होता जाता
 जैसे अग्निहोत्र-सत्य मूर्तमान
 अंगारक—अंग-आत्म-संस्कारक ! ...
 अचानक, आग की आकृतियाँ
 बनने लगीं दीपशिखाएँ
 और गाने लगीं—
 'गर्मि-ए-बज्जम है यक् रक्से-शरर् होने तक
 शमा हर-रंग में जलती है सहर होने तक !' ...
 काला-काला नभमंडल
 बन गया जगमग मंडप—
 उपग्रह बरसाने लगे खील-बताशे ! ...
 पूरब का पूरा परिदृश्य
 जगमगाया इतना ज्यादा
 जितना पहले कभी नहीं जगमगाया था ! ...
 और, एक विशाल तोरण—
 जिसके चारों तरफ भीगी मसोंवाले
 विकट विक्रांतों की विशाल सेना ! ...
 जिसके बीचों-बीच
 पश्चिमी हवाओं के रुख पर
 ऋचाओं की लयों-सा लहराता
 विविधरंगी ऊँचा झंडा । ...
 जिस पर अभ्रकी अक्षरों में अंकित :
 'अगली सदी का अग्रिम अभिनंदन !' ...
 अचानक, मेरी और मेरे सभी
 हमउमर-हमसफ़र साथियों की उम्रें
 दशकों कम हो गई । ...
 बुढ़ियाती शकलें बदल गईं
 किलकारती शिशु-शकलों में ! ...
 अचानक, मेरी मरी माँ आ गई
 काले किनारे की सफ़ेद धोती पहने
 सौम्य : शांत : सीधी : सरल !
 और करीब ढाई बरस के

मुझ शिशु के टमाटर-से गालों को
 इतना चूमती गई, इतना कि—
 यथार्थ में, पैंतालीस बरसों का प्रौढ़ होकर भी
 और, आग की अनेक आकृतियों से जुड़-जुझड़कर भी
 और, ममता के आँचल के दूध की
 एक-एक बूंद के लिए
 भुखियाया-भटकता फिरता
 भोज-के-भोज हजमाते
 सूअरों-से लोगों की भारी भीड़ में
 एकदम अकेला-अकेला
 अग्निमुख अकेलेपन के आगे-आगे
 डगमग-डगमग—
 चाकू लगे घायल आदमी की
 असह्य असलियत ढोते हुए भी
 गम्भीर दुर्घटनाग्रस्त लहलुहान बेटे की
 जिजीविषा-भरे जिस्म की झबरू जकड़न जैसी
 किसी जर्जर-जिस्मवाली
 अंधी माँ की ममता की दूधभरी
 छलकती गागर-सी अनुभूति से भरकर
 ज्योंही मैं कुलबुलाया कि
 सामने सफ़ेद दाढ़ी वाले साईबाबा
 क्या शान से बोले :
 'सुपने में साई मिले सोवत लिया जगाय ।
 आँखि न खोलूं डरपता, मत सुपना हो जाय ।'

□

खूंखार हाथों ने आँखों पर बंधी पट्टी
 अचानक, खोल दी ।...
 मुझे छोड़ दिया वहाँ
 जहाँ हर शख्स की शकल
 रंग-पर-रंग बदलती बेहद बदरंग थी ।...
 चेहरे-पर-चढ़े चेहरे ।...
 फैलते-सिकुड़ते, गैँडा-मगरमच्छ के जैसे
 दाँतों में दबे-लटके-चीखते-चिचिआते
 किस्म-किस्म के जानवर-परिन्दे ।...
 हर आँख घूरती ऐसे
 जैसे, सीने में सूराख करती
 छिदती जाती, छिटकती-छितराती,
 वैलिंगवाली नीली-हरी-लाल लौ हो ।...
 चमचमाते भाले ताने
 भागती भीड़ ने राँद डाला
 अकेले में, डरे-दुबके, खरगोशनुमा
 अजनबी आदमियों को ।...
 देखते-देखते, चारों तरफ, बाल बिखेरे
 हरी-लाल-नीली-पीली-काली
 बड़ी-बड़ी बिन्दियां लगाए
 बेनर-झंडे लिए
 गला फाड़कर नारे लगातीं
 इकट्ठी होती औरतें ।...
 और, औरतों के पीछे-पीछे
 झंडे ऊँचे किए
 कुत्ता-सिरवाले भूँकते आदमी !...
 अचानक, एक विशाल पंडाल में सारा माहौल
 वरात की शकल में बदल गया ।...
 त्रिपुंड-तिलकधारी-मंत्रपाठी
 भैंसों से घिरी एक नवयुवती

ब्याह-मंडप की आग
 सुहाग की कीमती चीजों पर उलीचती
 बड़े जोर से चिल्लाई—
 'अरे, शौहर बदलने
 और, जूते बदलने की बात
 बराबर माने बिना
 औरत की आजादी की बात करना
 सरासर संगीन साजिश है इन बरातियों की ।...
 (ओह, एक दिन
 आजादी की आतिशी अभिव्यक्ति
 अचानक, जंगल की आग जैसी कैसी भड़क उठती है!
 आजिज आदमियत के
 सदियों घुटनभरे, धुंधुआते,
 धुआँ-धुआँ अहसास में...
 जिसमें जहर-झगीला
 ँठा-अकड़ा केकड़ा जैसा
 एकदम जल जाता है
 हमेशा हरी होती
 गूखद्दी गाय-सी असामाजिक सामाजिकता का
 सदियों पाठा, समूचा सामंती संघ-विधान !)
 और, इसके साथ ही
 आसमान की तरफ मुंह किए कुत्ते
 बुरी तरह रोने लगे ! ...
 अकुलाकर, आँख खुली तो देखा
 दिन काफी चढ़ चुका है ।...
 और, सामने खड़ी पत्नी
 बड़े रौब से कहती हैं :
 "देखो जी
 ये अंतर्राष्ट्रीय महिला वर्ष है,
 कल से, वक्त से पहले उठना—वर्ना...।"

○

हारसिंगार के फूलोंवाली
 नरम-नरम हथेलियाँ
 मेरी बुझी-बुझी आँखों पर घरे
 एक पुखराजी प्रतिमा बोली :
 'बताओ, मैं कौन हूँ ?'...
 प्रश्न-ध्वनि के साथ खोपड़ी में
 एक दरवाजा धीरे-से खुला
 जिसके अन्दर—
 हड्डियों की विस्तृत होती हुई जगहों पर
 दिखीं, हर्षोल्लासमई, हरे-हरे, घने-घने,
 दरखतों की दुनिया ।...
 रग-रग की रक्त-वृंदों से फुदक-फुदक कर
 सफ़ेद-सफ़ेद फूलों से चोंच जुड़ाती
 बोलती, वेशुमार बुलबुलें !...
 लगा, जिस्म का रोयाँ-रोयाँ
 केसर-क्यारियों का सुरम्य-स्थल हो गया है...
 जहाँ एक सफ़ेद हाथी के
 जगमग-जवाहराती हाँदे पर
 बैठे हैं हम दोनों ।...
 (यानी, पुखराजी प्रतिमा और मैं ।)
 अचानक, आकाश
 आतिशी आईने-सा नीचे गिरा ।...
 माहौल में—
 जलती मशालें लिए दौड़ पड़े
 वेशुमार लुटेरे-डाकू-क्रांतिल
 जो भीषण अग्निकांड के अक्सों में
 जम्हूरियत के
 जश्नों-जुलूसों-जनाजों के ज़रिये

मारधाड़-लूटखसोट करते जाते थे ! ...
 हर तरफ, आतिशो आईने की किर्च-किर्च में
 खंडर ताजमहल नज़र आते थे । ...
 जिनमें डरावने डढ़ियल
 फगुआ और चैता गला फाड़कर गाते थे । ...
 दूर से अर्पिता आता था अंधेरा-अंधड़ । ...
 (सच, फन फैलाए वेशुमार
 स्याह साँपों से भी बेहद ज्यादा खूंखार खयाल, मूर्तमान
 महसूस होता है देश-देशान्तर में
 फ्रासिज्म के बढ़ते पैसे पंजों का !
 छिः कितना धिनौना लगता है
 विज्ञान की चमक-दमक में व्यक्तिः वातावरण ! ...
 मगर आजादी के नाम पर
 काली-से-काली करतूत भी, गद्दारी-करिश्मे से
 कैसी समाजवादी-शुभ्र लगती है !)
 डर-सुरक्षा की भावना से भरकर
 पुखराजी प्रतिमा ने
 ज्योंही भरा मुझे अपनी वाँहों में
 कि एक झोंके से झनझनाकर एक जंगी जंजीर ने
 जंगली बनते जिस्म को
 बुरी तरह जकड़ लिया ! ...
 गुम हो गयी पुखराजी प्रतिमा
 तिलिस्मी तिमर में
 किसी तांत्रिक की गुल हुई लौ-सी । ...
 आँखों के आयतनों में
 आँसू की बूंद-बूंद, जैसे,
 धुंधलाए दर्पण की किर्च-किर्च । ...
 जिसमें, सितारों वाली, नीली-नशीली, चन्द्रमुखी रात का
 अंग-अंग खंड-खंड प्रतिबिम्ब,
 जैसे, मरते-मरते मेघदूत का
 भग्न-भग्न (भग्नदूत ?) रूपबोध ! ...
 दिल के बीचों-बीच

जंगी जबड़े-सा खुलता, खतरनाक,
 घुप अँधेराभरा खोखल
 जिसमें, सिकुड़ता-सिकुड़ता-सिकुड़ता—
 समाप्त होता सतरंगी किरणों का रंजित आकाश ।—
 ऋतुसंहार, रोम-रोम,
 होता संहारमुद्रित संहार ! ...
 और, उभरी ! रूमानी गीतों की सतरें-सूरतें
 छिपकलियों-चमगादरों-सी । ...
 पिल पड़ीं पिलपिले जिस्म की खाल खींचने ।
 और फिर, मिट्टी को महान् मूरत, सजीव, अस्तव्यस्त,
 खोपड़ी में खड़ी, आँचल पसारे, चीखने लगी :
 'अरे ओ, ला, दे, मेरी ममता का प्रतिदान ...'
 ढहा दे, मन में बने महबूबी मकवरे ! ...'
 और, इसके साथ ही
 रोम को रोम खींचने लगा खुद ही अजीब तरह
 और, निकलने लगा मदिरा-सा मादक द्रव्य
 आँखों के आगे, मरी-मरी आकृतियाँ उधारता । ...
 फिर खिंचा-खिंचा रोम, हैरतअंगेज,
 खिला-खिला लगने लगा फूल
 नई-नई, एक फूलती-फूलती फुलवारी का ।



सोने-चाँदी के छलछलाते-छलकते
 अंगूरी-अंगूरी, गुलाबी-गुलाबी,
 झलमलाते जाम-पर-जाम, अनगिनत ! ...
 जैसे, अरब की रंगीन रातों के
 मदभरे खयालों में—
 चलते-चलते कारवाँ, मूर्तमान ! ...
 अंगे पेटीकोट-से परिवेश को बदलती
 जगमग-जगमग जिस्मानी शमा जैसी
 अजीब अंदाज़ में काकुलें छिटकाए
 रोम-रोम के रेशमी झूल के
 शरीरी-पटले पर बैठी
 ऊँचे-से-ऊँचे झोटे लेती
 सीमाहीन नीलछत्र छूती
 सीमाहीन नीलदर्पण चूमती
 सीत्कारती, नूरानी शक्लनुमा सुराही ! ...
 हरसिंगार-बकुल के फूल बरसाता
 आषाढ़ का अलमस्त धन ! ...
 अहा, क्या खूब ! —
 बड़े-बड़े बालीवाला, नकलची धुड़कू,
 (बंदर के मानिंद)
 तज़रफ़ेंक छोकरा जैसा
 पवन, छेड़छाड़ करता
 राजमार्गों पर चहलकदमी करतीं-
 इठलातीं, रजनीगंधाओं-छुड़मुड़ियों से ! ...
 चारों तरफ, बेमौसम,
 बगराए बसंत का विराट् वन ! ...
 तन, बन गया नये-नये कसोरे-सा ! ...
 सुराही देखते-देखते

जामों से जुड़ती-जुड़ती
 समा गई कसोरे में ! ...
 सब तरफ, उफनती मदिरा के
 फेनाक्षरों में लिखा-लिखा
 'जइ कैम्बई पीवीसु पिउ
 अकिआ कुड्ड करीसु ।
 पाणिउ नवई सराबि जिबँ
 सबबैंगे पइसीसु ! '...
 किसी अवधूत की आत्मदाही मूठ की
 तीव्रतम मार से, जैसे, जल उठा बासंती वना।...
 जगह-जगह, चप्पे-चप्पे पर
 विशाल-विशाल पैट्रोल-टैंकों के
 फटने के भयंकर धमाके ! ...
 हवाई हमले की भारी बमबारी से हुआ
 भीषण भूगर्भीय विस्फोट ! ...
 ट्रकों-ट्रेनों-बसों की घमासान टक्करों से
 हुए हादसे का भीतर-भीतर
 हनी हुई पसलियों के ढेर-सा
 मूर्तमान हाहाकार ! ...
 पलकों के ऊपर-नाचती
 महामत्स्य के भुड़भुड़े-चमकीले पंखों-से पैरोंवाली
 काली कराल काया
 लाल-लाल, योजनाओं लम्बी, जीभ के लपेटे लेती ! ...
 काले सागर में उठे ज्वार पर
 सुनहरी साँपिनों के फैले-फैले फन—
 लपलपाती, चिरी-चिरी, जीभें...
 अरे नहीं,
 चाँद चूमने, उठती-गिरती, लहरों-पर-लहरें !
 दगदगी दीवारों में दबे-दबे दूबीपों के
 कुचले-कुचले, कटे-फटे दृष्य ! ...
 छिः कितना दयनीय
 पीप-खून-रिसते ज़ख्मों भरा जिस्म...

जैसे, दुनिया का मूर्तित भावबोध !—

पलक झपकते

चाँद पर, कविता-कामिनी से सटे-सटे,

मदपिये खैयामी-आकार में छाये सहर-सा

सारे-का-सारा रोमांटिक नज़ारा

अचानक, बन गया

प्लास्टिकी-मोनालीसाई नज़र की राजधानी दिल्ली में

बहुत ऊँचा, राख का, आदमक़द बुत !—

फिर, ध्वनि की रफ़्तार से ज़्यादा तेज़ रफ़्तार में उड़ते

हवाईजहाज़ की क्लात्मक चुभकी !—

और, राख के बुत की जगह दिखे

कैसे-कैसे शानदार भवन !...

हर तरफ, भवन-भवन-भवन !...

अहा, जिधर देखो उधर

भवन-भुवनेश्वरों की मूर्तित माया !...

और, भवनों के बाहर जमा होती

भेड़ों की भीड़ जैसी

‘भैं-भैं’ करती जनता ।—

भवनों के भीतर—

बुद्ध-बापू-रवीन्द्र जैसे

कई युग-पुरुषों के तैल-चित्रों—

मैटलिक आकारों-बिम्बों के नीचे

गज़नवी-नादिर-हिटलर-मुसोलनी जैसे

जीते-जागते, धाकड़ों की धाकड़धिन्ता-धमाचौकड़ी ।...

(पहुँचे हुए धूर्तों का मनोरंजन भी

क्रायदे-क्रानून का कैसा

शानदार रंगनाटक लगता है !)

कलात्मक कक्षों में—

तख़्ताऊस की इमेजरी से होड़ लेती

मेज़-कुर्सियों पर, जमे बैठे

लाईस—लाटसाहब !

चौमुण्डी मूरत के आगे

सफ़ेद खरगोशों के गलों पर
 बड़ी बेरहमी से छुरा फेरते
 वीभत्सता-मुद्रित तांत्रिकों-से ये लार्ड्स...
 'सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय' की
 भिनकी-भिनकी, मरी मक्खी जैसी
 मोहर लगे क्रीमती कागजों पर
 कमाल के कलम चलाते ! ...
 क्या खूब ! --

शरबते अनार-सा बोटलों में बिकता
 खुले खजाने, खून लज्जतदार आम आदमी का
 चौराहों पर, चमत्कारी सिद्ध-सा कोई
 घूरता ये खून की बंद बोटलें । ...
 कड़कती बिजली : कौंधती
 किसी बच्ची की चीख कि
 'इसी खून का बनेगा अणुमानव'
 (Homunculus) ...

भवनों के भीतर-बाहर
 अँग्रेजी-भौकों से भरा-भरा बलगमी माहौल !
 नई नस्लों के
 दोगले हिन्दुस्तानी कुत्तों की
 काकटेल-पार्टियाँ, अरेबियन-नाइट्स ! ...
 इन्द्र के अखाड़े की इमेजरी पर
 टाँग उठाकर मूतते ये कुत्ते ...
 जिन्हें, कभी-कभार, झिड़कता
 फटीचर हुलियावाला
 ऊटपटाँग कार्टून जैसा कोई
 क्लास-फोर का कर्मचारी ! ...
 किताबों-पत्र-पत्रिकाओं से
 खचाखच भरे ठेले में जुता
 हिन्दी की डीगें हांकाता
 मगर, भीगा-भीगा, ऊदबिड़ाल-सा महान् संपादक ! ...
 अरे-वाह, वह चमकी हाथी दाँत की मीनार ! ...

भइ क्या खूब ! —

जिसपर सोने की चिड़िया के पंखों-सा

फहराता यूनियन जैक

जिसपर जुगनुआता — सन् १८३५ ! ...

तरह-तरह के

अँग्रेजी फूलोंवाले पौधे उगे गमलों से

गुलज़ार मीनार की

सबसे ऊपरली मंज़िल पर खड़ा—

दूरबीन से दूर तक देखता—

भौंडे कौ-मैगनोन कपाल के दाँतों पर टांगे

भव्य भारत के नक्शे को गौर-से घूरता—

कितना क्रूर-काइयाँ, कंजा गंजा गोरा ! ...

खरामे-खरामे नीचे उतरकर दागने लगा ठाठ से

वतन के लोगों की जीभों-जहनों पर

A से Z तक एल्फाबेट !

आफर करता डबलरोटी-मक्खन-टी । ...

बल्ले-बल्ले !

मूर्त्तमान तिलिस्म, कि

विशाल विलायती म्यूज़ियम में

यों शान से टहलता कंजा गंजा गोरा—

उल्टे पैरों वाला आदमी—अरे, मेकाले !

(तोबा ! मरा आदमी जिंदा कैसा लगता है !)

फिर घिरी, घुप अँधेरी रात ! ...

और, मीनार में, जंगी जंजीर से जकड़ी,

मरियम-हैलन की मूरत जैसी सकरुण-भव्य

भारतमाता की महान् मूरत ! ...

मशालों-हंडों-गैसों की रोशनियों में

ज़िरह-बख्तरबंद वर्दीवालों से

दाँत किटकिटा कर जूझते

कुदाल-फावड़ों से मीनार पर प्रहार करते

लुकते-छिपते, महान लहूलुहान लोमहर्षक लोग

(तिलक-गांधी-दयानंद-टैगोर-सुभाष-नेहरू जैसे)

मीनार की तड़कती-टूटती ककैया ईटें...
 तड़कती-टूटती जंगी जंजीर की कड़ियाँ—
 एक-दो-तीन सौ-हज़ार—अनगिनत ।...
 और, आखिरी कड़ी की चमत्कारी तड़कन-टूटन
 ऐसी कि गहड़-सा उतरा दिन १५ अगस्त, सन् १९४७
 रेंगने लगे, राजमार्गों पर घोंघों के रथ...
 मिट्टी के शकट—(मृच्छकटिक !)
 जिन पर सवार
 मुखौटों-पर-मुखौटे बदलते-टरति
 ऊँची-ऊँची मसनदों-मसनदों उछलते
 मुटियाये, मरदूद मैंढक ! ...
 जगह-जगह, जैसे, साँप सूँघे महान् बुतों को
 माल्यार्पण करते यही मरदूद मैंढक !
 दूर से दौड़ता आता
 अजगर के फटे-फटे जबड़े जंसा, त्रासद्-बिम्ब ! ...
 सीना चाक करती, चारों तरफ चीख—
 'क्रिसास-क्रिसास !'
 'Bring ruin those
 Runing the earth'.

○

जीवंत त्रासद्-बोध ! ...

वीभत्स-मुद्रा में

चारों तरफ, घूमता-फैलता,

फटा-फटा मशीनी मुँह...

जिसमें ज़िबह होता, एक चीखता जानवर ! ..

तड़फड़ाते कलेजों के

असीम अम्बार पर टिकी

तिकोनी हाड़िल चट्टान को

चाक करती चीख ! ...

बड़ी मासूम —

‘मरो-मरी’ चीखती लहलुहान मृगी ! ...

दस दरवाज़ों वाले मांस के मकान में

मुँह फाड़े, जीभ लटकाए,

लहू टपकाती ‘टप-टप-टप’...

अचानक, वह घुस आई...

और, इस जगह मैं मौजूद था !

मैं —

जिसके सीने से सटी-सिमटी-सी

एक काल्पनिक कृति — आकाशगंगा-सी !

अक्षिगत ईथर के आर-पार

सुदृढ़ स्कंधों से दो उत्तुंग शिखरों के बीच

इन्द्रधनुषी झूला, जिसपर

हरा दुपट्टा लहराती

हिमबाला की झरती दूधिया मुस्कान ! ...

आँखों के आसमानी आवर्तों में

धीरे-धीरे उतरती, आलौकिक-अजनबी

मगर, मांसल छवि-छुअन

जैसे हो

धमनभट्टी से पिघल कर बहती-बहती
 तरल-तरल, फ़ौलादी भक्क रेखा ! ...
 प्राग्पाषाण पुरुष की पीठ पर सवार
 कोई उभरी-उभरी मांसपेशियों वाला
 विशाल विविधाकार ...
 ऐसा कि, आधुनिक से आगे आने वाला,
 निर्मित होता हुआ लौह-पुरुष !
 (शानदार, शरीरधारी कल्क-विम्ब !) ...
 और, अचानक, अनेक
 (संपाती-समय के-से)
 जंगी गिद्धों के गिरोह
 या, कुछ-कुछ, जम्बू-जैटों जैसे इंजन
 या इंजननुमा इंसान झपटने लगे
 हर दिशा से, हर तरफ । ...
 क्रद -क्रदम पर
 मरती-मरती मृगी का दर्दभरा दृश्य ! ...
 फिर, एकदम एकमुश्त
 असंख्य मरी मृगियों का हँदा-रक्तम
 मसान-मंगल माहौल । ...
 तहस-नहस होने लगा वैसा सब कुछ
 जो एक जमाने में
 जतन से जुटाया-सहेजा-सँवारा होगा
 सबके दादा-परदादा-लकड़दादा
 दादी-परदादी-लकड़दादी ने ...
 आदम-ईव ने, मनु-श्रद्धा ने ! ...
 यों, जो भी, जितना-जितना
 ज्यादा-से-ज्यादा अच्छा-आस्थावान था
 देखते-देखते, भीषण बाढ़—
 अग्निकांड की चपेट में आए, बसे-बसाए,
 खूब-खूब खूबसूरत-खुशहाल
 विशाल भूभाग के यथार्थ-सा
 तहस-नहस होता गया । ...

क्या खूब !

कैसा झूमता आता है, खोपड़ी में,
खिला-खिला गुलहजारा-सा हर ख्याल
और, हर ख्याल पर रीझी-रीझी,
रंगबिरंगी, तितलियों जैसी,
'हजारों खाइशें ऐसी कि हर खाइश पे दम निकले ।'

अरे, अचानक, बन गया हसीन नजारा
फैलता-फैलता खोखलापन ।...

और, उसमें से आती खिलखिलाहटों ने
नोंच डालीं नस-नाड़ियाँ, भीतर-भीतर
और बाहर, हर तरफ से पीछा करता
खतरनाक, खुफिया-सा खालीपन
जो, लूटने-खसोटने लगा, खुले-खजाने,
आम आदमी का सुखद्-स्वत्वमय
सजा-सँवरा, सब कुछ, सब तरफ से ! ...

(ओह, अकसर, कितना आम होता है
आम आदमी की उम्मीद को, औकात की,
फुलवारी का उजड़ जाना !

और, जिस्म के भीतर-भीतर, जीते जी,
एक मौत जिए जाना—अनजान बनकर
अपने ही आपे के खोखलेपन-खालीपन के
क्रयामती कारावास में ! ...)

उफ़ ! कितने डरावने

डामों ने घेर कर, पकड़ लिया

पुरजोर पानी के पुंजीभूत पंजों को ।...

और, चकाचौंध वाली लपटीली लहरों से
चमक उठा नगर-नगर, महानगर—
महीकण-महतत्व ।...

(क्या खूब, विकास के नये चरण !)

और, ललचाने लगा खुशक खेतों को
खिलखिलाता पानी ।...

गाँव के ढोंग मन्दिर की

सिमिआन-सी ड्योढ़ी के आगे खड़े
 बौने, वरगद के पेड़ पर पंख झड़ा
 लोथड़ा, दम तोड़ता, एक तोता बोला :
 'जय हो वरुण महाराज की ! ...
 और, इस ध्वनि की रफ़्तार से
 बेहिसाब ज्यादा तेज़ रफ़्तार में
 गैस-सैलिन्डरों पर उड़े
 दीर्घमारुतों जैसे, बेशुमार, शहसवार ! ...
 धावा बोला गया
 जादुई पिटारे जैसे अंतरिक्ष पर ! ...
 रिझ-रिझ की रोमांचकारी टक्करें
 हलचल-हड़बौंग ! ...
 और फिर, ठाठ से,
 चढ़ाई की गई चाँद पर ! ...
 कमाल !
 खौसखाए-खजीले, मटमैले, कुत्ते-सा
 लगने लगा चाँद दयनीय
 कुकुरमुत्ता-कास-सिवार उगे
 मनहूस ताल में । ...
 कहीं हुआ, बहुत-बहुत,
 भीतरा-भीतरा, भीषण विस्फोट-टकराव । ...
 और, बेशुमार-बेहिसाब फलफूलों वाले
 बहुत बड़े बाग के भीतरी भाग के
 मनोरम मोड़ पर स्थापित
 दिव्य-सी मुस्कराहट वाली
 वाग्देवी की विशाल प्रतिमा
 भहराकर, चूर-चूर हो गई ! ...
 ताल ठोक कर,
 तनकर, खड़ा हो गया
 एक मशीनमढ़ा मानवाकार ...
 जिसके छिद्र-छिद्र सीने में दिखे
 वैश्वानरीय विलक्षण शेड्स वाले शिलालेख

और, करामाती काल-पात्र
 अगली कई सदियों के ! ...
 उसके भालों से भुजों में
 भुनती-भुनती ताजा कलेजियाँ ! ...
 हैरतअंगेज, कि खपचियों से पतले पैरों तले
 कुचले-कुचले, कई ऐसे-ऐसे महाविम्ब
 जिनकी महान् से भी ज्यादा महान् चर्चा
 वेद-पुराण कुरआन-बाईबिल
 और अवेस्ता जैसे धर्मग्रंथों में
 हमेशा से होती आई है । ...
 आकाश से उभरते-उभरते
 सफ़ेद घोड़ों वाले सुनहरे रथ में
 सहस्रभुज सवार—
 तुरेदार महासफ़ेद साफ़ा पहने
 (देवदूत जैसा)
 कोई ज्योंही उतरा कि
 उससे एकदम जूझ पड़ा
 इंजननुमा इंसानों
 या, इंसाननुमा इंजनों का खूंखार हज्जूम ! ...
 अहा, कैसे पुर्जे-पुर्जे उड़ते गए
 हज्जूम में शरीक शैतानों के ! ...
 तहस-नहस होता गया काले किले जैसा कम्प्यूटरी कारखाना ...
 जिसमें बुद्ध-ईसा-गोरख-गांधी जैसों के
 बेशुमार कपाल भरे थे ! ...
 विस्फोट-विस्मार-विनाश के
 कैसे-कैसे खूनी-खूंखार विम्ब
 खून से तरबतर—
 रीछ के पंजों-बघनखों वाले—
 किस तरह पलक झपकते
 नेस्तनावृद होते गए ! ...
 जीवंत त्रासद्-बोध की वीभत्स मुद्रावाले
 चारों तरफ, घूमते-फैलते,

फटे-फटे, मशीनी-मुँह में
 मरती-मरती मृगी की
 कैसी चमत्कारी कुलांच
 कि हो गई साबुत
 चूर-चूर वाग्देवी की विशाल प्रतिमा ।...
 और, इर्द-गिर्द,
 अनेक आदित्य-वसु-इंद्र-अश्विनीकुमार मरूद्
 मानवीय हाथों के
 आरती के दिओं जैसे बनकर स्तवन करने लगे !...
 अद्भुत महामुख, मर्म-महाव्यापी—
 अनहद-नाद उचारता—
 संजय-उवाचः
 'पश्चमे पार्थ रूपाणि
 शतशोऽथ सहस्रशः ।
 नानाविधानि दिव्यानि
 नानावर्णकृतीनि च ।'

○

सोने की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ
 एक बुढ़ा : एक नौजवान ।
 (शायद बाप-बेटा) ! ...
 अचानक, कुछ सीढ़ियां चढ़ने पर
 बुढ़े का पाँव फिसला । ...
 वह जा गिरा
 लपलपाती लपटों वाले
 अतलांत खड्ड में । ...
 ऊपर, रेत के टीले पर
 चक्कर काटने लगा वह नौजवान ...
 इस तरह जैसे
 भाड़ में अनाज का अकेला दाना
 भुनता-भुनता, चट-चट चक्कर काटता है ।
 देखते-देखते
 फ़ासफ़ोरसी एक सघन पर्त उभरी
 जिस पर उस नौजवान की आँखों से
 टप-टप टपकती—
 लाल स्याही से लिखे सफ़ों वाली
 सूरतें अस्त्रियार करतीं, ढेर सारी किताबें । ...
 और, आया तेज़ तूफ़ान
 जिसके साथ, सनसनाती हुई,
 तरह-तरह की आकृतियों ने
 घेरा-चूमा उस नौजवान को ...
 फिर, जद्दोज़हद भी की उससे
 और, भूत की छायाओं की तरह गुम होती गई ! ...
 इसके साथ ही
 पूरब दिशा की जगह
 एक अजीब-सा द्वीप दिखने लगा । ...

जिसके चारों ओर
 लोहे के पहाड़ गलगल कर,
 लाल-लाल पानीवाला दरिया बनते जाते थे ! ...
 और, नये खून के अहसासों-भरे
 जयजयकार-मंत्रोच्चार करता वह नौजवान
 उगता सूरज बाजूओं में भरे,
 छलाँग लगाकर मेरे सिरहाने आ बैठा ! ...
 असीम ऊर्जा के स्पर्श-पुलक से भर
 आँख खुली तो देखा
 सिरहाने खुली पड़ी है एक पांडुलिपि —
 'डूबता सूरज : उगता सूरज !



कलात्मक कक्ष ।...

सब तरफ, सब कुछ, मध्यवित्त ऐसा—

जैसा, फरजी बनता आकारित अभिजात्य ! —

और, बहुत बढ़िया बिस्तर पर,

बहुत बूढ़ा, अकेला मरता हुआ मैं !...

अचानक, पुंडरीक परिधानित
एक कपूरी-काया अंदर आई ।...

आँखों में धसी

उसकी भव्य आकृति—अलौकिक-सी !...

खड़े रोंगटे—शूलों से ! —

आलिगनार्थ, भूखी-सी, बाँहें बढ़ाती बोली:

‘पहचानो मुझे !...

मैं हूँ—

तुम्हारी आखिरी परिणीता ! —

एकदम सब छोड़ दो...

चलो मेरे साथ ! ’...

इन शब्दों के साथ उसने

बाँहों में किस तरह,

किस क्रदर, कसकर भर लिया—उफ़ !

मुझसे सटे

रेत के आदमकद आकार पर

बाज की तरह झपटा

भँवरीला-भयानक स्याह पानी का पंजा ! —

नज्रों में अंकगणीय

आयतनों-आयामों की जगहों पर जम गया

रंगविरंगा-झिलमिलाता झाड़फानूस जैसा—

सब तरफ, सिर्फ सिफ़र—सूरज-सा !

और, उसके आलिगन में

सिफ़र बनने लगा शरीर भी ! ...
 अकड़न-एँठनवाली काइया मुखमुद्रा पर
 उगी, झागदार अस्फुट ध्वनि:
 'सुनते हैं, मौत काली होती है,
 मगर तुम तो हो
 इतनी-इतनी सफ़ेद वरनवाली !'
 बोली;
 'मौत जब किसी की परिणीता बनती है
 तब, काली से सफ़ेद वरनवाली हो जाती है !'
 मैंने कहा : 'अच्छा,
 परिणय से पहले
 ज़रा-सा वक्त दो मुझे !' ...
 बोली: 'ठीक है !'—
 मैं चीखा :
 'ओ मेरे घर-परिवार ! —
 ओ, तुम सब—
 जो, जितने ज़्यादा जुड़े हो मुझसे
 अब, मेरे जाने का वक्त आ गया है । ...
 वोलो, कौन मेरे साथ चलेगा ?' ...
 अचानक, दीवारों पर
 पान की बेशुमार पीकें एक साथ उभर कर
 भयंकर अट्टहास कर उठीं ! ...
 चीखें, बिफर कर, बन गई विराती शक्लें । ...
 आ गई पत्नी-पुत्रियाँ
 आ गए पास-पड़ोसी
 और, वुत बनकर खड़े हो गए
 कोने-कोने में, भयभरे ! ...
 फिर, वही चीख । ...
 और, अचानक आया सबको सूँघता साँप ! ...
 सब तरफ, स्याह पड़ता सन्नाटा ...
 सब गायब ! ...
 और मैं, एकदम अकेला

खेत पर खड़े डरावे जैसा ! ...

और फिर, पुंडरीक परिधानित कपूरी काया की
आर्लिगनार्थ, भूखी-सी, बढ़ती बाँहें ।...

फिर, एकदम फ़ाख्तों-सी कुछ किताबें
सीने से लिपट गईं...

और, उनके साथ ही

पुंडरीक-परिधानित कपूरी-काया की बाँहों में
मैं बन गया—

रंगबिरंगा-झलमलाता झाड़फानूस ! ...

और, सब तरफ, सिर्फ़ सिफ़र सूरज-सा—

‘ओमित्येदक्षरंमिदंसर्वं

तस्योपव्याख्यानं भूतं

भवद्भविष्यदित सर्व-

मोङ्कार एव ।

यच्चान्यत् त्रिकालातीतं

तदप्योङ्कार एव !’

○

सामने, स्याह होता,
 डूबता-डूबता सूरज ! ...
 खोपड़ी के खोखल में,
 कुंडलाकार स्याह साँप ! ...
 दो काली दीवारों के बीच में
 झुलसी-झुलसी, भिचती-भिचती,
 सुनहरी-सुनहरी देह !
 और, हर तरफ,
 तरतीबवार, तेल भरे दिए बेशुमार, ...
 जिनकी बातियाँ बिन जलीं
 यों कि, तनी-तनी संगीनें
 जिरहबख्तरबंद जंगली भैंसे के
 ढालदार सीने में धसने-धसने को । ...
 पीछे, हरे-भरे फले-फूले,
 दरख्तों-दरख्तों कूदती-फाँदती गिलहरी
 घनी-घनी घास में, चुलबुला, खेलता खरगोश
 अरे नहीं, एक लड़की : एक लड़का ।
 (बरमला, मैं-दीदी :
 जीवन-चन्द्रकला*
 उफ़ ! नाम की निरर्थकता में भी
 कैसा आनुभूतिक अर्थ होता है ! ...

* दीदी चन्द्रकला का कारुणिक निधन २६-१०-७५ को संध्या ७.३० बजे
 इर्विन अस्पताल, दिल्ली में हुआ था ।

कमाल !

बिम्बाता यों कि चिनी चिता पर
चित्तशव के, परिप्लुत-परिप्लुष्ट, चेहरे पर मूर्तमान
छिद्र-छिद्र, जुझारू, जखमी जोधा के
करुणतम् विद्रोह के आखिरी दीदार-सा !
ओह माँ !

कितना-कितना करुणतम्...

किंतु फिर भी, किस क्रूर,
वज्रवत, दाँत किटकिटाता
कैसा-कैसा हुआ—होता हुआ
अद्भुत-अंतरमुख !...

समूचे जिए के

लगाव-अलगाव का, कैसा-कुछ,

जाहिर-अजाहिर

द्वंद्व-द्वैत : द्वैताद्वैत : दिवधारहित !)

मरा शरीर—

मरघटः मसान-पंडा : मसान-मंत्रः चिनी चिता ! —

आग का अर्थ तलाशतीं—

लपलपाती लपटें ।...

(वायुरनिलम भूतमथेदं

भास्मात्तंशरीरम् !)...

कैसा, सूक्ष्मातिसूक्ष्म-स्थूल, अनुभव का

हादसा होता हुआ रूपक : टेब्लो...

सामने एकदम स्पष्ट

जर्जर वस्त्र-सा शरीर

कफन से ढका,

भूतहास-सा रहस्यभरा !...

आँखों में उभरता सैयद का आला...

नहीं-नहीं, भ्रूण—

जिसमें वच्चे का बुनता-बुनता शरीर—

कफन का कारण : मरण का मूल्य :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
 तथा शरीराणि
 विहाय जीर्णान्यन्यानि
 संयाति नवानि देही ! ...
 जातस्य हि ध्रुवो
 मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
 तस्मादपरिहार्येऽर्थे
 न त्वं शोचितुमर्हसि !) ...
 वो देखो ! —
 हाथी के दिखावे के दाँतों-सा
 होने के क्रियापद का
 अरे, कैसा बनता बिम्ब
 साक्षात्—
 रुद्र-सत्य !'
 सोने की काँठी—
 ओह, बाँस की लुकाठी ! ...
 अरे, हुआ कुछ ऐसा फेरफदल, कि
 सामने से आता-आता व्यक्ति
 गायब होकर, विचार बन गया ! ...
 अहा, लपटों के साथ लिपटा-लिपटा
 लेटा-लेटा, लहलुहान, मूर्तमान्—व्यक्ति : विचार !
 छुरा घुपी
 हसरतों भरी छाती से
 बहती हुई खून की धारों-सी
 चिता की लपलपाती लपटें
 बाहर-भीतर—
 चटख-चड़चड़ाहट-चिरायध...
 चरबी-मांस-बालों-हाड़ों के—अस्तित्वबोध के—
 ध्वंस-दहन का, कैसा जीवंत मरण—
 हैरतंगेज ! ...
 कूर्मचक्रः कूर्मपृष्ठः कगार
 उस पर आकाशदीप

जिसमें नाचता ज्योतिर्लिंग ! ...

क्या कहने हैं ! —

अक्ष में

एक अद्भुत कलात्मक बोतल में

कलोल करतीं मछलियों-सी रंगबिरंगी किरणें !

झलमल-झलमल आईना-सा आकाश...

(इमेजरी में) —

भोपाल ताल के—

अतलांत, पारदर्शी जल में प्रतिच्छायित ! ...

गजब, कि पास में मेवाड़ का ध्वस्त दुर्ग !

अरबी घोड़े पर सवार, एक खूनी सुलतान ! ...

उड़ती नागिनों-सी चीखें, कि

‘पद्मिनी जल मरी—जौहर’ ! ...

सामने राख की मरमरी ढेरी । ...

उसमें से राख उठाकर उड़ाती एक प्रेतिल मूठ :

‘छार उठाइ लीन्ह एक मूठी

दीन्ह उड़ाइ पिरथभी झूठी ! ...

भूखों-नंगों के झुंड जैसा आंदोलित जल

जल के ऊपर, थूथरी उठाए,

मतस्य का महानादः

कि कभी-कभी

एक ही प्राण से जुड़ी-जुड़ी

दो-दो देहें

साथ-साथ जीती हैं, मरती हैं...

और, उनसे संबद्ध,

एक दिन एक आदमी

कंधों पर एक साथ

दो-दो लाशें लादे-लादे चलता है ! ...

उठता हुआ रंग-बिरंगा पर्दा—

गिरता हुआ विशाल काला पर्दा । ...

जल में डूबते-उतराते

‘शंख-घोघे : सीप-मोती—ओह, अस्थिफूल ! ...

कृष्ण-कृष्ण कालिन्दी
 श्यामल-श्यामल तट : जल—
 तल में—
 असंख्य जगमगाते ज़र्रे—
 नहीं, फ़ासफोरस कण ! ...
 (पंचभूत के पुतले का
 हकीकतन, सबसे बड़ा सच
 अंततः चमत्कारी फ़लसफ़ा—फ़ना,
 पूर्णविसर्जन—बक्का !)
 अचानक, आँखों में घुसने को आतुर, घूरते घुसपैठिए ! ...
 खोपड़ी में खौलता-खदकता जलमंडल ! ...
 धधकता-धुँधआता पहाड़ ! ...
 झाग-झाग परिवेश ! ...
 भुड़भुड़ के आदमी, जानवर, पक्षी, पेड़, पौधे !
 बारूदी झक्कड़—
 घिरते बलगम के बादल ! ...
 बरसता पीप-लहू—
 थू-थू, ज़मीन का चप्पा-चप्पा ! ...
 आँख-नाक की कीचड़-कीचड़
 कीमती-से-कीमती हर चीज़
 मुँह में गू-सा गिरता
 अपनेपन का अहसास ! ...
 घात लगाए हुए खोफ़नाक कछुए-सा
 सिकुड़ा-सिकुड़ा सारा माहौल ! ...
 क्या खूब ! —
 चमड़े की तिलिस्मी धौंकनी जैसी
 सामने फूलती-सिकुड़ती ! ...
 ओह, अजीब-अजनबी
 जिस्मानी रूह की शिनाख़्त का, सरासर,
 मेसमरिक मायावी आला-सा
 अंधा अहसास—धृतराष्ट्रीय ! ...
 जिस्म में

मोठा-झहरीला महसूस होता
 होता अंतरमंथन ।...
 दूर दिखता दिग्दाह ।...
 लपलपाती लपटें
 झींगुरों जैसे उचट-उचट कर जलते
 जाने-पहचाने बहुतेरे
 बाप-बेटे, माँ-बेटी, बहन-भाई,
 पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिकाएँ...
 एक जैसे खून वाले
 अनेक माँस के पुतले !...
 कैसा, गिरगिट-सा, रँग बदलता हर चेहरा
 टेप-रिकार्ड किया-सा
 मातमी धुनों में सुनाई पड़ता
 लोगों की जीभों से—वैराग्यशतक !
 मगज में उभरता सुलेमानी
 जिस पर सवार, सूर्यप्रभ सैयारा !...
 'लेंसर', पर—
 यौनाकृति में—
 कैसी अद्भुत-असीम चकाचौंध ऊर्जा की !...
 रूप धरकर चलती-फिरतीं
 आनुभूतिक प्रतिबिम्बनाएँ !...
 हर तरफ, जगर मगर !...
 और, अचानक,
 उभरता भुजंगोंभरा भाभर ।...
 गर्दिश करते आसमानों से
 झपटते राकेट-बम...
 रोम-रोम जकड़ा राहुसूतक !...
 चारों तरफ
 कल्पना की कोख से उभरता-घेरता,
 मानसून-सा, केतकी का बीहड़ वन...
 जिसके कोण-कोण में
 काली, विशाल आकार वाली

खोह-सी, खुलती, खाली कोख...
 जिसमें, औंधी पड़ी,
 एक घायल देह की
 पीठ-छाती के आरपार
 उगता-उगता—
 गृहकक्षाकार, फैलता-फूलता,
 केतकी का ऐसा अजीब पौधा
 जिसका 'ऐराव' जैसा एक पत्ता
 कैसा, केतु-जैसा ! ...
 अरे, कैसी रोमांचकारी कौंध
 कि आगे दीखता
 टूटे-फूटे बुत-सा बादशाह...
 बनमानुष की टूटी-फूटी दाढ़ों जैसी
 बेशुमार गोठें...
 सिरकटे, पिटे-पिटे, प्यादे-सा
 पुराण-पुरुष, कड़ी सवारी कसे
 अहिल्याई जैसी पथरीली पीठ पर !
 चौड़े-चौड़े पांयचे वाली पैटें पहने
 गुंडे-सा, फरजी, पूरा परिवेश ! ...
 जिन्दगी का मौजूदा मच्चा
 महाभारत महसूसती
 ठठरिओं-सी, ठहरी-ठहरी, सारी शैएँ । ...
 शतरंज जैसी,
 क्रांस पर बनी, बंद काल कोठरी ! ...
 (वाह-रे वाह ! —
 वास्तुकला का नवनिर्मित
 कैसा, जीता-जागता, आश्चर्य ! ...
 जिसमें, अन्तर्राष्ट्रीय महिला-वर्ष के उपलक्ष में
 उपहारस्वरूप... देहदान !)
 चारों तरफ विस्फोट से पहले का
 साँप सूँघा सन्नाटा
 समा गया रोग-मरण मँडराते-घिरे

मनहूस स्थान पर
(इविन अस्पताल !)—

जहाँ अद्भुत जलती मशाल—कायानुमा...
पानी-पानी चेहरे को चमकाती
जैसे कल्पना की मरियम मूरत मुसकराती —
बोली :

“जलती मशाल का उजाला
काले पानी में डूबे सूरज का असल मूल्य ! ..
अरे, देख तो,
मसलहत—
कैसा बनता-बनता
मसलन ! ...

‘Look
do not be
afraid of
the things
you are
about to suffer.
Prove yourself
faithful
even to death’...
और, वो देख,
कैसा हो गया तहज्जुद...
फज्र का बेवक्त-वक्त !
“What a wounded name
Things unknown
Shall live
Behind me.”
‘सिस दिया, पर...
सिर्द ना दिया ! ’...
नचिकेता !
ओ नचिकेता !!

जीवन ! —
'अग्निम्...
'अनंतलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतन्नि—
हितं गुहायाम् !'...
अच्छा—
अलविदा...
अ...दा !'

○

Digitized by eGangotri

**स्कैन्ड/Scanned

ed**

****स्कैन्ड/ Scanned****

अग्निहोत्र: सपनों में

● छंद की मुक्ति में छटपटाते मामूली मनुष्य की मुक्ति का मूल्य-महत्त्व, कितनी कला से, कितना कह सकते हैं अपनी चरम् सहजता-शक्ति के बल पर साधारण शब्द भी—करीब इक्कीस सौ पंक्तियों में लिखी गई कविता 'अग्नि होत्र : सपनों में' का शब्द-शब्द इसका अग्निधर्मा साक्षी है।

● 'अग्निहोत्र : सपनों में' आधुनिक तरह के खतरनाक सपनों को घेरनेवाला, टेढ़ी-मेढ़ी संवेदना को कठोर सत्य के संदर्भ में अंकित करने वाला, अब तक का एक बहुत लम्बा और बड़ा व्यापक जोरदार कविता-प्रसंग है, जो इतिहास, धर्म, समाज, जीवन, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान के कितने ही प्रसंगों को नक्काव नोंच-फेंककर, मुखौटे छीलकर, प्रस्तुत करता है।

● "इसका आयाम इतना विस्तृत है कि यह आपके सिरहाने से सहारा के मरुस्थलों के पार—कांगो के तंगलों को लांघता हुआ—दक्षिण अफ्रीका के कबीलों के 'ड्रमों' तक फैला है।..."

● और इतना ज्यादा तीखा है इसका स्वर कि यह नपुंसक बुद्धि जीवी, हिप्पोक्रेट राजनीतिक नेता, बलबलाते मज्रदूर नेता, ऊँघते व्यूरो क्रेट, समझौतापरस्त कवि-मनीषी और गणतंत्र के तथाकथित पुरोधाओं की चिंघाड़ को एक साथ—भकभोर कर—प्रभावहीन कर देता है।"

मूल्य : दस रुपए